धर्म-बीज

–: लेखक :–
अनाहत

–: हिन्दी–संपादक :–
पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

धर्म-बीज

लेखक

अनाहत

हिन्दी–संपादक

दीक्षा युग प्रवर्त्तक पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** के तेजस्वी शिष्यरत्न बीसवीं सदी के महान योगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

238

प्रकाशक

दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

प्रथम आवृत्ति • प्रतियाँ 1000 • **मूल्य :** 140/- रु. • आसो पूर्णिमा 2079, दि. 28-10-2023 • **विमोचन स्थल :** मुनिसुव्रत स्वामी जैन मंदिर श्वे.मू. जैन संघ, निगडी, (पूना)-411 044. • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.*** द्वारा लिखित उपलब्ध 8 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल, चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं., 4403, लोटन जाट गली, पहाड़ी धीरज, सदर बाजार, दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार, मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से

प.पू.मु. श्री तत्त्वानंदविजयजी म.सा. की ओर से गुजराती में आलेखित एवं मैत्री आदि भावों के श्रेष्ठ उपासक **पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** के चरम शिष्यरत्न मरुधररत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में संपादित **'धर्म-बीज'** पुस्तक का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

आज से वर्षों पूर्व ज्ञान भंडार का निरीक्षण करते हुए **पू.मु.श्री रत्नसेनविजयजी म.** (बाद में **पू.आ.श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.)** ने **'पू.मु. श्री तत्त्वानंदविजयजी म.'** द्वारा आलेखित **धर्म-बीज** पुस्तक पढ़ी थी ।

पुस्तक में मैत्री आदि चार भावनाओं के विशद वर्णन को पढ़कर उनका हृदय गद्‌गद हो गया था । तभी से उनके दिल में इस पुस्तक को हिन्दी भाषा में प्रकाशित करवाने की तीव्र उत्कंठा थी ।

समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा । वर्षों बाद पुनः उस पुस्तक को देख उनकी वह भावना दृढ़ बनी ।

योगानुयोग कोराना के काल में उनकी स्थिरता वेपेरी-चैन्नई में थी ।

उस समय आहोर निवासी त्रिशलाबहन दिनेशभाई जिन्हें हिन्दी साहित्य में विशेष अभिरुचि थी । पूज्यश्री के मार्गदर्शन में उन्होंने **'धर्म-बीज'** पुस्तक का हिन्दी भावानुवाद तैयार किया ।

उसके बाद पूज्यश्रीने विशेष ध्यान देकर पुस्तक का परिमार्जन व संपादन किया । हम पूज्यश्री के खूब-खूब आभारी हैं तो उसके साथ त्रिशलाबहन भी खूब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने सुंदरशैली में अनुवाद तैयार किया ।

प्रस्तुत पुस्तक में पूज्य आचार्य भगवंत ने स्व. लेखक मुनिवर्यश्री का संक्षिप्त जीवन परिचय व उनकी अनमोल कृतियों का भी परिचय दिया है ।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि पूज्यश्री की अन्य कृतियों की भाँति यह पुस्तक भी अत्यंत लोकोपकारी सिद्ध होगी । ❑❑❑

लेखक-परिचय

–मरुधर-रत्न पू.आ.श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

'धर्म-बीज' पुस्तक के लेखक **पू.मु.श्री तत्त्वानंदविजयजी म.सा.** का जन्म कच्छ की धन्यधरा पर सांयरा गाँव में धर्मनिष्ठ सुश्रावक जेठाभाई पासुभाई शाह की धर्मपत्नी सुश्राविका चंपाबाई की कुक्षी से वि.सं. 1983 में हुआ था ।

संस्कारी माता-पिता ने उन्हें बचपन से ही धार्मिक शिक्षण एवं संस्कार दिए, जिसके फलस्वरूप बचपन से ही उनका जीवन धर्म-संस्कारों से सुवासित बना !

यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ पूर्व के महान् पुण्योदय के फल स्वरुप उन्हें सिद्धांतमहोदधि **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी म.सा.** एवं उनके विद्वान् शिष्यरत्न **पू.मु.श्री भानुविजयजी म.सा.** का समागम हुआ । पारसमणि के संस्पर्श से लोहा भी स्वर्ण बन जाता है । बस, सद्गुरु के समागम, सत्संग व परिचय से उनके जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन आया । वि.सं. 2007 माघ शुक्ला-6 के शुभ दिन सूरत में उन्होंने **पू.मु.श्री भानुविजयजी** के वरद हस्तों से भागवती-दीक्षा अंगीकार की और वे **पू.पं.श्री भानुविजयजी म.** के शिष्य **मु.श्री तत्त्वानंदविजयजी म.** बने । उनकी बड़ी दीक्षा वै.सु. 6 के दिन हुई ।

भागवती दीक्षा अंगीकार करने के बाद वे रत्नत्रयी की आराधना-साधना में आकंठ डूब गए ।

संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी आदि भाषाओं पर तो प्रभुत्व प्राप्त किया ही, उसके साथ ही अपने नाम के अनुरूप जिनशासन के सर्व श्रेष्ठ तत्त्व **'देव-गुरु और धर्म'** की तत्त्वत्रयी में डुबकी लगाने लगे ।

पूर्वजन्म के पुण्योदय से उनका इस काल के साधना-मनीषी **प.पू. अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.** से संपर्क व क्रमशः गाढ़ परिचय हुआ ।

साधना-मनीषी ने उनके अन्तश्चक्षु को उघाडने का काम किया ।

धीरे-धीरे उनकी अंतरात्मा में परमात्म-तत्त्व का अनुराग बढ़ता गया ।

भक्तियोग की इस साधना के यज्ञ में अध्यात्मयोगी **पू.पंन्यास श्री भद्रंकरविजयजी म.** ने घी उँडेलने का काम किया ।

कभी प्रत्यक्ष सान्निध्य में पूज्य पंन्यासजी म. ने प्रेरणा का पीयूषपान कराया तो कभी दूर-सुदूर क्षेत्र में विचरण समय पत्रों के माध्यम से प्रेरणा का अमृतपान कराया ।

वे खूब सरल हृदय से अपने हृदय में उठती शंकाएँ व भावों को पत्र के माध्यम से पूज्य पंन्यासजी भगवंत को लिखते थे और अमाप करुणा के निधान पू. पंन्यासजी भगवंत उनकी हर समस्या व शंका का सचोट समाधान करते थे ।

आज भी उनके द्वारा आलेखित पत्र और पूज्य पंन्यासजी भगवंत द्वारा प्राप्त प्रत्युत्तर का पत्र-संग्रह **'पत्र-गंगा'** के रूप में विद्यमान है । पू.पंन्यासजी म. के प्रत्युत्तर के रूप में उन्हें प्राप्त सैंकडों पत्रों में से कतिपय पत्र मेरे द्वारा हिन्दी भाषा में अनूदित **'आध्यत्मिक पत्र माला'** के रूप में उपलब्ध हैं । जिनका स्वाध्याय आज भी सुषुप्त चेतना को जागृत करने में सक्षम है ।

उन्होंने व्याकरण, न्याय, प्राकृत, संस्कृत प्रकरण तथा आगमों का सूक्ष्म बोध प्राप्त किया था ।

भक्तियोग उनका प्रिय विषय था । योग विद्या, स्वर विद्या, कुंडलिनी विद्या आदि का अनुभव ज्ञान प्राप्त किया था । पातंजल योग, शैव योग, शाक्त योग तथा बौद्ध योग का भी गहन अभ्यास किया था ।

ध्यान योग के क्षेत्र में भी उन्होंने अच्छी प्रगति की थी ।

नमस्कार स्वाध्याय

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद **पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की प्रेरणा से जैन साहित्य विकास मंडल के सक्रिय कार्यकर्ता अमृतलाल कालिदासभाई ने जैन साहित्य में व्याप्त नमस्कार महामंत्र विषयक साहित्य को संग्रहित कर प्रकाशित करने का बीडा उठाया ।

'नमस्कार स्वाध्याय ग्रंथ' दो भागों में प्रकाशित करने का तय किया गया ।

(1) प्राकृत विभाग और (2) संस्कृत विभाग ।

(1) प्राकृत विभाग में भगवती सूत्र आदि 45 आगम व प्रकरण ग्रंथों से उद्धृत कर नमस्कार महामंत्र विषयक साहित्य को संग्रहित किया गया ।

संस्कृत विभाग में **'नमस्कार मंत्र स्तोत्र'** आदि 37 ग्रंथों में से नमस्कार महामंत्र विषयक साहित्य का संग्रह किया गया ।

इस प्रकार वर्तमान समय में नमस्कार महामंत्र विषयक जो प्राचीन साहित्य उपलब्ध है, उसका बहुत ही सुंदर संकलन **'नमस्कार स्वाध्याय'** के भाग 1 व 2 में किया है ।

इस भगीरथ कार्य में अनेक महात्माओं का सहयोग रहा हैं, फिर भी उसमें सबसे अधिक श्रम व योगदान **पू.मु.श्री तत्त्वानंदविजयजी म.** का रहा था ।

एक अपेक्षा से कह सकते हैं कि उनके जीवन का अनमोल सृजन यह **'नमस्कार स्वाध्याय'** है ।

प्राकृत विभाग में अर्हमनमस्कारावलिका, सिद्ध नमस्कारावलिका, अरिहाणाइ थुत्तं, नमुक्काररहस्स थवणं, भत्त परिन्ना, संबोध प्रकरण, णाणसारसंदब्भो, चउसरणपयन्ना संदब्भो आदि का गुजराती भावानुवाद भी **पू.मु.श्री तत्त्वानंदविजयजी म.** ने ही किया था ।

प्रतिदिन 7 से 8 घंटों तक कठोरश्रम करके इस **'नमस्कार स्वाध्याय'** के दो भागों को प्रकाश में लाने का भगीरथ कार्य किया था ।

जैन संघ को प्राप्त इन ग्रंथों में अमूल्य योगदान देनेवाले **पू.मु. श्री तत्त्वानंदविजयजी म.** के सुकृत की जितनी अनुमोदना करें, उतनी कम है ।

नमस्कार स्वाध्याय के दोनों भागों का प्रकाशन विक्रम संवत् 2017 व 2018 में हुआ था ।

दिगंबर परंपरा में हुए नागसेन मुनि के द्वारा विरचित ध्यान विषयक **'तत्त्वानुशासनम्'** नाम की एक संस्कृत कृति है, जिसमें 259 श्लोक हैं, इस कृति का गुजराती अनुवाद भी **पू.मु. श्री तत्त्वानंदविजयजी म.** ने किया था, जिसका प्रकाशन वि.सं. 2017 (ई.सन् 1961) में जैन साहित्य विकास मंडल इर्लाब्रीज विलेपारले-मुंबई से हुआ था ।

योगशास्त्र अष्टम प्रकाश-विवरण

कलिकाल-सर्वज्ञ **आचार्य हेमचन्द्राचार्यजी** की एक अनमोल कृति है–योगशास्त्र !

जिसमें उन्होंने मोक्षमार्ग की प्राथमिक भूमिका रुप **'मार्गानुसारिता'** से लेकर **'क्षपकश्रेणी'** तक के साधनाक्रम को प्रकाशित किया है ।

उसी योगशास्त्र के आठवें प्रकाश में ध्यान साधना का विस्तृत वर्णन है ।

इस ग्रंथ का प्रकाशन भी जैन साहित्य विकास मंडल की ओर से वि.सं. 2025 में हुआ था । इस विवरण को प्रकाश में लाने का कार्य **पू.मु.श्री तत्त्वानंदविजयजी म.** ने किया था ।

देवाधिदेव भगवान महावीर

चरम तीर्थपति देवाधिदेव भगवान महावीर परमात्मा के निर्वाण के 2500 वर्ष की पूर्णाहुति के पावन प्रसंग पर एक अनमोल कृति का प्रकाशन हुआ था, जिसका नाम था–

'देवाधिदेव भगवान महावीर' !

जिसके लेखक थे–**'पूज्य मुनिश्री तत्त्वानंदविजयजी म.'** वे इस ग्रंथ की प्रस्तावना (निवेदन) में लिखते हैं–

वि.सं. 2027 आषाढ़ शुक्ला 2 से प्रतिदिन कलिकाल सर्वज्ञ रचित **'वीतराग स्तोत्र'** की कृति का प्रतिदिन पारायण करता था। उसकी अर्थ-भावना भी चालू थी उससे जिनभक्ति के परिणाम बढ़ते ही गए।

वि.सं. 2027 विजयादशमी के दिन प्रातः चार बजे स्वप्न आया, उसमें मैंने मेरे सामने नीलरत्न के अमृतमय तीन कुंभ देखे। मेरे हाथ में सोने की कलम थी और सुंदर कागज पर मैं तीर्थंकर परमात्मा की विशेषताएँ लिख रहा था।

अचानक नींद उड़ गई। मेरे आनंद व प्रमोदभाव का पार नहीं था।

मैंने अपने स्वप्न की बात **पू.आचार्यदेव श्री लक्ष्मणसूरीश्वरजी म.सा.** के आगे प्रस्तुत की। वे भी खुश हो गए।

मैंने कहा, **'आज से प्रभु के विषय में लिखने की शुरुआत करनी है, आप आशीर्वाद प्रदान करें।'**

उनके शुभाशीष और वासक्षेप के साथ मैंने लेखन प्रारंभ किया। उस दिन मुझे अट्ठम करने का विचार था, परंतु पू. आचार्य भगवंत ने कहा, **'आयंबिल करो।'** मैंने शुद्ध आयंबिल किया। उसके बाद सर्व प्रथम चौतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्यों का वर्णन लिखा।

उल्लास अपूर्व था। स्व. पूज्य आचार्यदेव की कृपा थी और तीर्थंकर भगवंत हृदय में बसे हुए थे। अतः क्रमशः सभी अनुकूल सामग्री प्राप्त होती गई। यह संपूर्ण मेटर शास्त्रानुसारी है, उसमें कहीं भी स्वकल्पना नहीं हैं। सब कुछ पूर्वाचार्यों का ही हैं, इसमें मेरा कुछ भी नहीं है !'

इस पुस्तक की प्रथम आवृत्ति का प्रकाशन वि.सं. 2030 ईस्वी सन् 1974 में हुआ था। **'देवाधिदेव भगवान महावीर'** के नाम से प्रकाशित इस पुस्तक में लेखन ने **'तीर्थंकर परमात्मा'** के लोकोत्तर स्वरूप का अद्भूत वर्णन किया है। जो प्रभु भक्ति रसिक पाठकों को अवश्य पठनीय है।

जैन शासन को अमूल्य ग्रंथों की भेंट देनेवाले **स्व. मुनिश्री को भावभरी वंदना।**

संपादक की कलम से

धर्म कल्पवृक्ष का मूल

'योगसार' ग्रन्थ में पूर्वाचार्य महर्षि ने कहा है-

धर्मकल्पद्रुमस्यैता मूलं मैत्र्यादिभावनाः ।

ये मैत्री आदि भावनाएँ धर्म कल्पवृक्ष की मूल हैं । मूल के बिना वृक्ष टिक नहीं सकता है, उसी प्रकार मैत्री आदि के बिना धर्म कल्पवृक्ष का अस्तित्व सम्भव नहीं है ।

जापान की राजधानी तोक्यो में एक माली रहता था । उसने अत्यन्त पुरुषार्थ करके एक बगीचे का निर्माण किया था । एक बार उसके पेट में शूल की भयंकर पीड़ा हो गई । इस हेतु ऑपरेशन कराना अनिवार्य हो गया । ऑपरेशन व ऑपरेशन के बाद एक मास तक आराम करना अनिवार्य था । माली के दिल में बगीचे की चिन्ता थी । **'बगीचे का एक मास तक सिंचन नहीं होगा तो मेरा बगीचा सूख जाएगा ?'**

माली के 15 वर्ष का एक बच्चा था, उसने अपने पिता को व्यथित देखकर पूछा-**''पिताजी ! आप इतने उदास क्यों हो ?''**

पिता ने अपने दिल की बात कह दी ।

बेटे ने कहा-**''पिताजी ! आप चिन्ता न करें, बगीचे का सिंचन मैं कर दूँगा ।''**

माली के बेटे ने बगीचे का कार्यभार सँभाल लिया । माली निश्चिन्त हो गया । वह बालक वृक्ष-सिंचन की कला से अनभिज्ञ था, अतः उसने अपनी कल्पनानुसार एक बाल्टी में जल लिया और एक कपड़ा लेकर एक वृक्ष पर चढ़ गया । तत्पश्चात् उसने कपड़े से वृक्ष की पत्तियाँ साफ कीं और कपड़े को जल में भिगोकर, पत्तियों पर जल सिंचन करने लगा । दिन भर वह यही कार्य करता रहा ।

दिन-पर-दिन बीतने लगे और वे पौधे धीरे-धीरे कुम्हलाने लगे । यह देखकर उस बालक को बड़ा आश्चर्य हुआ, **''जलसिंचन करने के बाद भी ये पौधे क्यों सूख रहे हैं ?''**

धीरे-धीरे एक मास व्यतीत हो गया । माली का स्वास्थ्य ठीक हो गया । उसके दिल में बगीचे को देखने की इच्छा प्रगट हुई और वह अपने बेटे को लेकर उद्यान की ओर चल पड़ा ।

थोड़ी देर में वह उद्यान के निकट पहुँच गया । उसने देखा-**'उद्यान के सब पौधे सूख रहे हैं..... ।'** यह देखते ही उसने अपने बेटे को धमकाते हुए कहा-**''नालायक ! तूने यह क्या कर दिया ? बगीचे को समाप्त कर दिया ? बगीचे का सिंचन क्यों नहीं किया ?''**

बेटा घबरा गया । अत्यन्त घबराते हुए उसने कहा- **''पिताजी ! मैंने प्रतिदिन इस उद्यान का सिंचन किया है, परन्तु पता नहीं, ये पौधे क्यों सूख रहे हैं ?''**

माली ने पूछा-**''तूने इन पौधों का सिंचन कैसे किया था ? बताओ जरा ।''**

पिता की आज्ञा पाते ही माली के बेटे ने एक बाल्टी में जल लिया और हाथ में एक वस्त्र लेकर वह एक पौधे के निकट जा पहुँचा और अपने वस्त्र से सर्वप्रथम वृक्ष की पत्तियों को साफ करने लगा, पत्तियों पर लगी धूल साफ करने के बाद वस्त्र को जल में भिगोकर पत्तियों का सिंचन करने लगा ।

माली ने यह दृश्य अपनी आँखों से देखा । उसने कहा-**''बेटा ! तेरा यह सब परिश्रम व्यर्थ गया है ! सिंचन पत्तों का नहीं, बल्कि जड़ का होना चाहिए । यदि जड़ का सिंचन होगा तो वह जल पत्तों तक पहुँच जाएगा और पत्तों का सिंचन तो पत्तों को ही समाप्त कर देगा ।''**

बस, आध्यात्मिक जगत् में हमारी स्थिति उस बालक की तरह ही है । हम भी धर्म-वृक्ष के मूल का सिंचन तो भूल रहे हैं और धर्म के अन्य अंगों के सिंचन का प्रदर्शन कर रहे हैं । ऐसी स्थिति में धर्म का वास्तविक फल कहाँ से मिल सकेगा ?

◆ अध्यात्म-उपासक किसी महात्मा के जीवन की एक घटना है । वे प्रतिदिन संध्या समय परमात्मा का ध्यान करते थे । एक बार वे संध्या

समय ध्यान में बैठे, किन्तु आज उनका मन ध्यान में एकाग्र नहीं बन पा रहा था। उन्होंने बहुत प्रयत्न किए, परन्तु वे सब प्रयत्न विफल गए। वे सोचने लगे-**''आज ध्यान में एकाग्रता क्यों नहीं आ रही है ?''** कुछ सोचने के बाद उन्हें पता चला-**''आज किसी निरपराध के साथ झगड़ा हो गया था और आक्रोश में मैंने उसे अत्यन्त कटु शब्द कह दिए थे।''**

तत्काल वे अपने स्थान से खड़े हो गये और उन्होंने जाकर उस निरपराध व्यक्ति से क्षमायाचना की।

बस, इस क्षमायाचना का एक जादुई असर हुआ। वे ज्योंही ध्यान में बैठे, उनका मन ध्यान में केन्द्रित हो गया।

'मैत्री भावना' हमें सर्व जीवात्माओं के साथ आत्मीय सम्बन्ध जोड़ना सिखाती है। **'मैत्री'** अर्थात् अन्य का हितचिन्तन। इस भावना के पात्र जगत् के समस्त जीव हैं अर्थात् इस भावना के द्वारा जगत् में रहे समस्त जीवों के कल्याण की कामना की जाती है।

पूज्यपाद सूरिपुरन्दर हरिभद्रसूरिजी म. ने भी धर्म की व्याख्या करते समय **'मैत्र्यादिभावसंयुक्तं' तद्धर्म इति कीर्त्यते'**। कहकर मैत्री आदि भावनाओं की महत्ता बतलाई है।

वास्तव में, वही अनुष्ठान धर्मानुष्ठान है, जिसके गर्भ में मैत्री आदि भावनाएँ रही हुई हैं। मैत्री आदि भावनाओं से रहित अनुष्ठान धर्मानुष्ठान नहीं है।

अपनी आत्मा को शुभध्यान (धर्मध्यान) से जोड़ने के लिए मैत्री आदि भावनाएँ अनिवार्य हैं।

अपनी आत्मा ज्यों-ज्यों इन मैत्री आदि भावनाओं से भावित/ओतप्रोत बनती है, त्यों-त्यों वह धर्मध्यान में स्थिर बनती जाती है।

मात्र स्व-सुख का चिन्तन आर्त्तध्यान है। मात्र स्व-सुख के रक्षण और दुःख के निवारण का चिन्तन आर्त्तध्यान है, जो अपनी आत्मा को दुर्गति के गर्त में डालता है; जबकि जगत् में रही सर्व जीवात्माओं के हित का चिन्तन, सर्व की सुखप्राप्ति और दुःख-निवृत्ति का चिन्तन धर्मध्यान है।

'स्व-सुख' की इच्छा आर्त्तध्यान है ।

सर्व-सुख की इच्छा धर्मध्यान है ।

आर्त्तध्यान से धर्मध्यान में जाने के लिए ये भावनाएँ सेतु का काम करती हैं ।

जिनेश्वर भगवन्तों ने मैत्री आदि भावनाएँ बतलाकर भव्यात्माओं पर महान् उपकार किया है ।

यै मैत्री भावनाएँ धर्मध्यान का रसायन हैं ।

जिस प्रकार सुवर्णभस्म, कस्तूरी, लोहभस्म आदि का उपयोग करने से देह की पुष्टि होती है, उसी प्रकार मैत्री आदि भावनाओं के भावन से आत्मा पुष्ट बनती है ।

मैत्री अर्थात् पर-हित-चिन्तन ।

प्रमोद अर्थात् गुण का पक्षपात ।

करुणा अर्थात् दु:खी के दु:ख को दूर करने की इच्छा ।

माध्यस्थ्य अर्थात् दुष्टबुद्धि वालों की उपेक्षा ।

ये चारों भावनाएँ जीव सम्बन्धी हैं । इस संसार में जो अनन्तानन्त आत्माएँ हैं, उन आत्माओं के प्रति हमारे हृदय में कौन-सी भावना होनी चाहिए और उस भावना का स्वरूप क्या है ? यह बात हमें **पूज्य उपाध्यायजी म.** सिखा रहे हैं ।

1. मैत्री भावना :- यह मैत्री भावना जगत् में रहे हुए समस्त प्राणियों के प्रति रखने की है । चाहे वह जीव एकेन्द्रिय अवस्था में हो, चाहे बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय अवस्था में हो । वह जीव सूक्ष्म हो या बादर हो, पर्याप्त हो अथवा अपर्याप्त हो, त्रस हो या स्थावर हो । मनुष्य हो या तिर्यंच हो, देव हो या नारक हो । व्यवहारराशि वाला हो या अव्यवहारराशि वाला हो, उन सब जीवों के प्रति हमारे हृदय में मैत्री भावना होनी चाहिए ।

जीवत्व के प्रति द्वेष या वैर भाव हमारी अन्तरंग साधना में बाधक है, जब तक इस संसार में एक भी जीवात्मा के प्रति वैर भाव रहेगा, तब तक आत्मा की मुक्ति होने वाली नहीं है ।

इसीलिए तो दोनों संध्या-प्रतिक्रमण करते समय **'मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ'** पाठ बोला जाता है ।

(1) मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है और (2) किसी के साथ वैर नहीं है ।

मैत्री भावना का स्वरूप है-परहित-चिन्तन । इस भावना के द्वारा जगत् के सर्व जीवों के हित की कामना की जाती है ।

2. प्रमोद भावना :- इस दुनिया में कई जीव अपने से अधिक गुणवान हैं । ऐसी गुणवन्त आत्माओं के प्रति हमारे हृदय में प्रमोद/बहुमान का भाव होना चाहिए । गुणवान आत्माओं के प्रति ईर्ष्या का भाव न रखकर सम्मान का भाव रखना चाहिए ।

गुणवान आत्माओं के गुणों के प्रति पक्षपात का भाव रखने से उन आत्माओं में रहे हुए गुण हमें भी प्राप्त होते हैं ।

जिस वृत्ति/प्रवृत्ति के प्रति हमारे हृदय में आदर-बहुमान का भाव होता है वह वृत्ति/प्रवृत्ति धीरे-धीरे हमारे जीवन में भी आ जाती है । आज तक मोहाधीनता के कारण हमने संसार के सुख के राग व द्वेष को ही अच्छा माना है, अतः वही वृत्ति हमारे जीवन में घर कर गई है, अब उस वृत्ति के बजाय गुणीजनों के गुणों के प्रति बहुमान/आदर भाव को जागृत करना है और इस हेतु प्रमोद भावना से अपनी आत्मा को भावित करना चाहिए ।

3. करुणा भावना :- इस संसार में अनेक जीवात्माएँ दुःख, दर्द और यातनाओं से पीड़ित हैं, उन दुःखी जीवों के दुःख निवारण के लिए हमारे हृदय में करुणा भावना होनी चाहिए । दुःखी के प्रति करुणा रखने से हमारा हृदय आर्द्र/कोमल बनता है । कोमलहृदयी आत्मा ही जीवदया/अहिंसा, क्षमा आदि धर्मों का पालन कर सकती है, जिसका हृदय कठोर व निर्दय है, वह अहिंसादि धर्मों की आराधना नहीं कर सकता है ।

अतः हृदय को कोमल बनाये रखने के लिए उसे करुणा भावना से भावित करना चाहिए ।

4. माध्यस्थ्य भावना :- अपने तीव्रतम पापोदय के कारण कई आत्माओं को धर्म के प्रति रुचि नहीं होती है । वे अत्यन्त निर्दय, क्रूर और कठोर होती हैं, उनको धर्मोपदेश देना सर्प को दूध पिलाने तुल्य होता है ।

अतः ऐसी पापात्माओं के प्रति जिनको धर्मोपदेश देना भी व्यर्थ है, अपने हृदय में माध्यस्थ्य भावना होनी चाहिए। अर्थात् ऐसी पापी आत्माओं के प्रति भी हमारे हृदय में द्वेष भाव नहीं आना चाहिए, बल्कि उनके प्रति मध्यस्थ भाव धारण करना चाहिए।

वर्षों पूर्व **पू.मु.श्री तत्त्वानंदविजयजी म.** की **'धर्म-बीज'** पुस्तक पढ़ी थी।

मैत्री आदि चार भावनाओं के ऊपर सुंदर विवेचन को पढकर हिन्दी भाषी पाठकों के हितार्थ हिन्दी अनुवाद का मनोरथ हुआ था।

वर्षों की भावना के बाद आज उसका प्रकाशन हो रहा है।

हिन्दी-अनुवाद में सुश्राविका त्रिशलाबेन दिनेशजी का सुंदर सहयोग रहा है।

पुस्तक के परमार्थ को जानकर सभी आत्माएँ प्रभु मार्ग की अनुरागी बनकर आत्मकल्याण के पथ पर आगे बढ़ें इन्हीं शुभ कामनाओं के साथ।

प्र.श्रावण सुदी पंचमी
वि.सं. 2079
दि. 23-7-2023 रविवार
निगडी पूना (M.S.)

अध्यात्मयोगी पू.
पंन्यास प्रवर श्री
भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
चरणरज
रत्नसेनसूरि

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृ.सं.
	आमुख	1
	उपोद्घात	2
	पवित्रता का संदेश	5
	मैत्री को स्थिर बनाने के उपाय	6
	आंतरिक गुंजन	14
	प्रारंभिक वक्तव्य	15
1.	**मैत्री भावना (UNIVERSAL LOVE)**	**19**
	`अमैत्री का प्रभाव'	25
	मैत्री की साधना का क्रम	32
	मैत्री भावना के अनुकूल विचारधारा	32
	मैत्री भावना (संक्षिप्त)	36
2.	**प्रमोद भावना**	**38**
	प्रमोद भावना (संक्षिप्त)	52
	प्रातः काल की प्रमोद भावना	56
3.	**करुणा भावना**	**57**
	करुणा भावना (संक्षिप्त)	71
	महाकरुणा	72
4.	**माध्यस्थ भावना**	**73**
	माध्यस्थ भावना (संक्षिप्त)	94
	पवित्रता, आनंद और पूज्यता के साधन	97
	अभ्यास हेतु सूचनाएँ	100
	अभ्यास का कोष्ठक	102
	अंतिम वक्तव्य	103
	उपसंहार	105
	मैत्री आदि भावनाओं का रहस्य	108

卐 मंगलाचरण 卐

मैत्रीपवित्रपात्राय मुदितामोदशालिने ।
कृपोपेक्षाप्रतीक्षाय तुभ्यं योगात्मने नमः ।।

(श्री वीतराग स्तोत्र)

मैत्री के पवित्र भाजन, मुदिता से प्राप्त परमानंद सहित शोभायमान, करुणा व माध्यस्थ से जगत पूज्य बने हुए और योगस्वरूप ऐसे हे वीतराग ! आपको त्रिकरणशुद्ध नमस्कार हो !

आमुख

मैत्री आदि भावनाओं रूपी अमृतकुंड में जीव हंस सतत कल्लोल करता रहे, ऐसा विचार लगभग पाँच साल से मेरे मन में चलता रहता था। परंतु उस पर ज्यादा चिंतन नहीं करने से वह केवल एक विचार के रूप में चलता रहा। पिछले पाँच-छह मास से मैंने भावनाओं के विषय में थोड़ा-बहुत लिखना शुरू किया। लिखने का आशय यही था कि लेखन के निमित्त से चिंतन बढेगा और यह चिंतन भावनाओं को आत्मसात् करने में मुझे सहयोगी बनेगा। लेखन कार्य के दौरान योगशास्त्र, पातंजल योगसूत्र आदि ग्रंथ मेरे सामने नहीं होते तो लेखन-कार्य आगे ही नहीं बढ़ता।

केवल अपनी आत्मा के लिए लिखा हुआ लेख जब कितनी ही मुमुक्षु आत्माओं के हाथ में गया तब उन्हें ऐसा लगा कि अगर यह लेख प्रकाशित किया जाय तो ज्यादा लोगों को उपयोगी बनेगा। उन मुमुक्षुओं की प्रेरणा से यह लिखित कार्य प्रकाशित हो रहा है। **'उपोद्घात'** और **'पवित्रता का संदेश'** इस ग्रंथ की उपयोगिता में अत्यंत वृद्धि करेंगे, ऐसी आशा है।

प्राथमिक पाठक की सरलता हेतु, टिप्पणियों में कईं पारिभाषिक शब्दों का सिर्फ भाव ही व्यक्त किया है। वह भाव उन शब्दों की शास्त्रोक्त व्याख्या नहीं है।

अतिपवित्र इस गुर्जरगिरा का मेरा अभ्यास लगभग नहीं वत् है। इससे भाषा की दृष्टि से इस लेखन में सौंदर्य नहीं आना स्वाभाविक है। इस ग्रंथ को भाषा की दृष्टि से नहीं देखकर उसमें आने वाले सात्त्विक विचारों की तरफ लक्ष्य (ध्यान) रखना। मुमुक्षुओं को मेरी विशेष सलाह है।

सत्पुरुषो ! हंसो ! इस पुस्तक रूपी पात्र में से खीर के अंश का आस्वाद लेना और नीर (पानी) के अंश को त्याग देना। इस आशा के साथ विराम देता हूँ।

राजनगर, ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी **–अनाहत**
वि.सं. 2014

उपोद्घात

प.पू.पं. श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य

मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुःखितः ।
मुच्यतां जगदप्येषा, मतिर्मैत्री निगद्यते ।।

अर्थ : कोई प्राणी पाप न करे, कोई प्राणी दुःखी न हो, प्राणी मात्र मोक्षगामी बने, ऐसी मति को शास्त्रकारों ने मैत्रीभावना बताया है ।

इस जगत् में इच्छा किसे नहीं होती ? संसारी जीव मात्र के हृदय में किसी-न-किसी प्रकार की इच्छा अवश्य होती है । इन सभी इच्छाओं का समावेश मात्र दो प्रकार की इच्छाओं में हो जाता है । **'मुझे स्वयं को किसी प्रकार का दुःख न मिले और जगत् में जितने प्रकार का सुख है वह सभी सुख मुझे मिले ।'** ये दो इच्छाएँ जगत् के संसारी जीवों के हृदय में निरंतर चलती रहती हैं । अन्य दूसरी इच्छाओं के मूल में यही इच्छाएँ अवश्य होती हैं । ये दोनों प्रकार की इच्छाएँ कभी पूर्ण नहीं होतीं । यह बात सतत हमें अपने ध्यान में रखनी चाहिए । इस कारण शास्त्रकारों ने यह सिद्धांत निश्चित किया कि **''इच्छा, यही दुःख है और इच्छा का अभाव ही सुख है ।''**

आहार की अयोग्य इच्छा में से बाहर आने के लिए शास्त्रकारों ने तप धर्म का उपदेश दिया है । अर्थ और काम की अयोग्य इच्छाओं से मुक्ति पाने के लिए क्रमशः दान और शीलधर्म का उपदेश दिया है ।

जिस तरह अर्थ, काम और आहारादि की अयोग्य इच्छाएँ जीव के दुःख की वृद्धि और सुख की हानि का कार्य करती हैं, वैसे ही, उससे भी अधिक सुखहानि और दुःखवृद्धि का कार्य उपर्युक्त दोनों प्रकार की अशुभ इच्छाएँ करती हैं ।

'मुझे ही सुख मिले और मेरा ही दुःख टले' ऐसी इच्छा सबसे ज्यादा निम्न कोटि की और सबसे ज्यादा पीडाजनक है । फिर भी इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को होता है । इन निम्न कोटि की इच्छाओं की और उनमें से जन्म लेती क्लिष्ट कोटि की तकलीफों, पीड़ाओं का प्रतिकार अमाप धन से, करोड़ों वर्षों के शीलपालन से व कोटि जन्मों के तप से भी नहीं होता है ।

दान, शील, तप के द्वारा क्रमशः परिग्रह, मैथुन अथवा आहार की संज्ञाओं का जोर घटता है और इनके घटने से होने वाली विविध प्रकार की मानसिक और शारीरिक पीड़ाओं से अवश्य बचा जा सकता है । परंतु इन सभी बाधाओं और पीड़ाओं की गिनतियों से भी **'मुझ अकेले को ही सुख मिले, और मुझ अकेले का ही दुःख टले'** इस प्रकार की अयोग्य, अघटित और अशक्य इच्छा के कारण और होने वाली मानसिक शारीरिक पीड़ाओं की गणना की तो कोई अवधि ही नहीं है ।

शास्त्रकारों ने इन अशक्य इच्छाओं की पूर्ति के अशक्य मनोरथ से उत्पन्न कष्टों से बाहर निकलने हेतु शुभ भावनाओं का मार्ग दिखाया है । इसे चौथा धर्म भावधर्म कहा है, यह किसी पुण्यपुरुष को देवगुरु की कृपा से ही मिलता है । दूसरों को तो इन उपायों की गंध भी नहीं लगती । इस उपाय की प्राप्ति में जीव की लघुकर्मिता या आसन्न-सिद्धि ही मुख्य है ।

उपाय फिर भी सरल है और उसका बोध होना भी सुलभ है परंतु प्रत्यक्ष अनुभव बताता है कि उस तरफ किसी विरले जीव का ही ध्यान जाता है अथवा कोई विरल आत्मा ही उन उपायों पर योग्य विचार करके उन्हें जीवन में उतारने के लिए कटिबद्ध होती है ।

अपने सुखों व दुःखों के तीव्र संक्लेशों के अशुभ भाव टालने का एकमात्र (अनन्य) उपाय इस लेख की शुरुआत में ही दर्शाया गया है । इस उपाय का नाम **'मैत्रीभावना'** है ।

जैसे काँटे से काँटा निकाला जा सकता है और जहर से जहर को निकाला जाता हैं, वैसे ही कनिष्ट (निम्न) कोटि के अधम स्वार्थी

भाव को उत्तम कोटि के मैत्रीभाव या प्रशस्त भाव से दूर किया जा सकता हैं एवं परिणामस्वरूप इच्छामात्र से रहित हुआ जा सकता है । दान-शील-तप इन तीनों प्रकार के साथ इस चौथे भावधर्म का प्रकार घुलने से ही वह लोकोत्तर धर्म स्वरूप बनता है और जीवों को संपूर्ण सुखी एवं सर्व प्रकार के दुःखों से मुक्त बनाता है ।

जीव जब उपर्युक्त मैत्री भावना से भावित अंतःकरण वाला बनकर विधियुक्त दान आदि धर्मों का सेवन करता है, तब उसे अपने चित्त के क्लेश शांत होते हुए महसूस होते हैं । मात्र अपने सुख अथवा दुःख की चिंता करने की आदत से ग्रस्त और उसके परिणामस्वरूप तीव्र संक्लेशों का अनुभव करता जीव जब दूसरों की हितचिंता रुप मैत्री आदि विचारणाओं से सुवासित होता है, तब वह अत्यंत शीतलता व शांति को अपने चित्त में साक्षात् अनुभव करता है ।[1]

चित्त की शांति अथवा सुख ही नहीं परंतु प्रत्येक धर्मानुष्ठान की सफलता का आधार भी शास्त्रकारों ने मैत्री आदि प्रशस्त भावनाओं की दृढ़ता पर ही टिका हुआ बताया है । इस कारण प्रत्येक धर्मानुष्ठान के पीछे इन भावनाओं का बल होना चाहिए, तभी सभी धर्मानुष्ठान सफल होते हैं, ऐसा फरमाया है । इस उद्देश्य को सामने रखकर देखने से मैत्र्यादि भावनाविषयक इस ग्रंथ का नाम **'धर्म-बीज'** ऐसा नाम उचित (सार्थक) लगता है ।

जीव जब मैत्री भाव में निपुण बनता है, तब उसके साथ संबंधित प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं और इन भावों के साथ किये गए धर्मानुष्ठान (धर्म क्रियाएँ) अप्रशस्त इच्छाओं को टालकर प्रशस्त इच्छाओं को पैदा करते हैं । इस तरह दुःख के मूल में रही हुई अशुभ इच्छाओं को इन भावनाओं के बल से जलाकर जीवन धर्ममय बन सकता है । ◆◆◆

1. `विश्वजंतुषु यदि क्षणमेकं, साम्यतो भजसि मानस ! मैत्रीम्
तत्सुखं परमत्र परत्राऽप्यश्नुषे न यदभूत्तव जातु ।।4।।'
—श्री मुनिसुंदरसूरिकृत अध्यात्म कल्पद्रुम-समताधिकार ।

पवित्रता का संदेश

प.पू.पं. श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य

1. परहितचिंता मैत्री : अपने सिवाय अन्य प्राणियों का हितचिंतन वही मैत्री भावना है । स्वयं के अलावा दूसरे प्राणी मुख्य रूप से चार प्रकार के होते हैं । 1. अपने ऊपर उपकार करने वाले (बहुत कम) । 2. अपने संबंधी, रिश्तेदार आदि (इससे थोड़ा ज्यादा) 3. अपने परिचित (इससे भी ज्यादा) 4. अपने अपरिचित (सबसे ज्यादा) ।

जो अपने उपकारियों के हित की चिंता नहीं करता, वह **कृतघ्न** कहलाता है ।

जो अपने स्वजनों की हितचिंता नहीं करता, वह **कृपण** कहलाता है ।

जो अपने परिचितों के हित की चिंता नहीं करता, वह **स्वार्थी** कहलाता है ।

जो दुनिया के किसी जीव की चिंता नहीं करता, वह **महास्वार्थी** कहलाता है ।

दूसरों की हितचिंता रूप मैत्रीभाव जिनके अंतर में सदा रमण करता है, उनमें कृतघ्नता, कृपणता, स्वार्थीपन आदि दुर्गुणों का नाश होता है और साथ ही साथ कृतज्ञता, उदारता, परोपकारिता एवं परमार्थवृत्तिता वगैरह सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है ।

जीव अनादिकाल से जैसे अचेतन पदार्थों पर राग एवं द्वेष भाव से पराधीन है, वैसे ही सचेतन पदार्थों पर रागभाव और द्वेषभाव से बँधा हुआ है । अपने आप पर उसे इतना ममत्व होता है कि अपने आपको सुखी करने के खातिर किसी भी प्रकार के पापकार्यों को करते हुए उसे

संकोच नहीं होता । मैत्रीभाव उसे अपने आप के ममत्व पर से चलायमान करके दूसरों के सुख की चिंता करने वाला बनाता है । मैत्रीभाव आने से पहले सिर्फ अपने पर ही ममत्व अंतर में होने से **'दुनिया के सारे सुख मुझे ही मिलें'** ऐसी अनंत तृष्णा उसमें छुपी हुई रहती है । सारे सुख एक ही आत्मा को मिल जायें, ऐसी परिस्थिति दुनिया में कभी नहीं होती । इस कारण से मैत्रीभावविहीन आत्मा हमेशा अत्यंत अतृप्त और शोकग्रस्त ही रहती है ।

मुझे सुख चाहिए, वह सुख स्वयं को नहीं मिलकर किसी और को मिलता है, तब उसके प्रति वह ईर्ष्या भाव वाला बन जाता है । इस तरह से ईर्ष्या, शोक, अतृप्ति आदि अनेक दुःख, अपने आप पर राग रखने वाले जीव को सदैव ही सताते रहते हैं ।

इन सभी दुःखों से मुक्त करने वाली कोई चीज अगर है तो वह एक मात्र मैत्रीभावना ही है । मैत्रीभाव से उसे अपने पर रहे हुए लगाव और ममत्व से विराग होता है और उसे अपने जैसे अन्य प्राणियों के हित व सुख की चिंता उत्पन्न होती है । ऐसी चिंता होने से वह दूसरे जीवों को सुखी देखकर, वह स्वयं उन सुखी होने वाले प्राणियों के जितना ही आनंद महसूस करता है और खुद को मिले हुए कम सुख में भी वह हमेशा तृप्त रहता है । इस आनंद से उसका ईर्ष्या भाव और तृप्ति से उसके शोक भाव का नाश होता है ।

मैत्री को स्थिर बनाने के उपाय

वैर और विरोध रूपी अग्नि को जलाने वाली इस दुनिया में मुख्य रूप से दो चीजें हैं–

1. अपने किये हुए (दूसरों के प्रति) अपराधों की माफी नहीं मांगना ।
2. दूसरों के (हमारे साथ) किये हुए अपराधों को माफ नहीं करना ।

अथवा अपने ही सुख की चिंता करते रहना और उस सुख के लिये अपने अलावा दूसरों को चाहे कितनी भी पीड़ा और तकलीफ क्यों न हो, पर उसके बारे में सोचना ही नहीं ।

3. अपने सिवाय दूसरों के सुख की चिंता नहीं करना और दूसरों पर इतने कष्ट आने पर स्वयं शक्ति, सामर्थ्य होते हुए भी उदासीनता बताना । इसको सरल तरीके से समझने का आसान उपाय–

1. अपने सुख की चिंता करते ही रहना ।

2. दूसरों के सुख की चिंता बिल्कुल नहीं करना ।

3. अपने अपराधों की माफी कभी नहीं माँगना ।

4. दूसरों के अपराधों को कभी माफ नहीं करना ।

मैत्री भाव को टिकाने के लिए इन चार प्रकार की प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिए ।

1. अपने अलावा, दूसरों के लिए सुख की चिंता, अपने सुख की चिंता जैसी ही करना ।

2. दूसरों पर आनेवाले दुःखों का निवारण करने के लिए अपने दुःखों के निवारण जैसा ही प्रयत्न करना ।

3. अपने से होनेवाली भूलों की क्षमा माँगने हेतु सदैव तत्पर रहना ।

4. दूसरों की भूलों (जो हमारे प्रति हुई हैं) को क्षमा करने के लिए सर्वदा तत्पर रहना ।

2. परदुःखविनाशिनी करुणा :– दुःख दो प्रकार के होते हैं– शारीरिक और मानसिक ।

शारीरिक दुःखों को द्रव्य दुःख कहते हैं और मानसिक दुःखों को भावदुःख कहते हैं ।

शारीरिक दुःखों का कारण असातावेदनीय कर्मों का उदय है और मानसिक दुःख का कारण मोहनीय आदि कर्मों का उदय है ।

मनुष्य को अपने दुःखों का निवारण करने के लिए सहज रूप से ही आकर्षण होता है, फिर भी उसके सर्व दुःखों का निवारण अशक्य होता है । कोई-न-कोई दुःख समय-समय पर उसके जीवन में आकर उसकी शान्ति में विघ्न डालता ही है । मनुष्य उससे दुःखी होकर

वास्तविक उपायों को छोड़कर अवास्तविक उपायों को अपनाता है । दुःखनिवारण करने का वास्तविक उपाय अपने अलावा दूसरी आत्माओं के दुःख-निवारण हेतु तत्पर रहना है । ऐसा उपाय करने के दो लाभ हैं–

1. पुरुषार्थ करते समय उस समय में उसे उसके दुःखों की विस्मृति होती है ।

2. दूसरों के दुःखों को दूर करने के प्रयत्न से शुभानुबंधी कर्म का उपार्जन होता है और उसके परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर शांति और सुख की वृद्धि का अनुभव होता है ।

करुणाभावना के पात्र जीव भी दो प्रकार के होते हैं ।

1. वर्तमान में दुःखी और भविष्य में भी दुःखी हों, ऐसे पाप मार्ग पर ही चलनेवाले ।

2. वर्तमान में आहार, वस्त्र, शयन, आसन, औषधि आदि सामग्री के अभाव में दुःख भोगनेवाले ।

3. वर्तमान में सुखी परंतु सुख भोगते हुए हिंसादि पापकर्म करके दुर्गति के दुःख खड़े करनेवाले ।

4. वर्तमान में सुखी परंतु धर्म के नाम पर मिथ्यात्व आदि पापकर्म करके भावी (भविष्य के) दुःख को उत्पन्न करने वाले ।

इस तरह दुःख और उसके कारणों से पाप से भरे जीवों को इन दोनों से छुड़ाने की वृत्ति, यही करुणा भावना है ।

दुःखी का दुःख दूर हो या नहीं परंतु दुःख दूर करने की भावना और प्रयत्न करने वाले को इसका अवश्य लाभ मिलता है ।

इसी तरह प्रयत्न करते रहने से, निकाचित कर्मों का उदय न हो तो सामने वाले का दुःख दूर होता है । द्रव्य दुःखों को दूर करने के प्रयत्न के समय, दुःखों के मूल में रहे कारणों व उनसे होने वाले पाप कर्मों से उन्हें बचाने का लक्ष्य भी होना चाहिए । भावदया के परिणाम के बिना की जाने वाली द्रव्य दया धर्मस्वरूप बनने के बजाय कई बार

अधर्म स्वरूप बन जाती है । द्रव्य और भाव दुःखों को अन्य दर्शनकारों ने तीन विभागों में बाँटा है–

1. आध्यात्मिक – शरीर और मन संबंधी दुःख ।

2. आधिभौतिक – हिंसक पशु-पक्षी आदि प्राणियों की ओर से आनेवाले दुः ख ।

3. आधिदैविक – देवतायी उपद्रव, जैसे कि भूकंप, दुष्काल, मरकी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दावानल आदि । ऊपर लिखित दुःखों को जैनशासनानुसार तीन विभागों में समावेशित किया जा सकता है–

1. मिथ्यात्व :– कुमत की वासना, असर्वज्ञ प्ररूपित कुशास्त्रों में बताये गए सिद्धांतों पर मजबूत विश्वास ।

2. अविरति :– प्रारंभ में सुखदायी परंतु परिणाम में कड़वे ऐसे विषय-सुखों की तीव्र अभिलाषा और मरते समय तक भी उन्हें नहीं छोड़ने की इच्छा ।

3. असाता वेदनीय का उदय :– जिससे क्षय, कर्क (Cancer), भगंदर, कुष्ठ आदि दुष्ट रोगों की पीड़ा का अनुभव ।

3. परसुखतुष्टिर्मुदिता :– दूसरों को अपने से ज्यादा सुखी देखकर अथवा गुणी देखकर उनके सुखों या गुणों पर ईर्ष्या व असूया का भाव न रखकर हर्ष धारण करना, यह प्रमोदभाव का लक्षण है । ईर्ष्या अर्थात् जलन और असूया अर्थात् दूसरों के गुणों में भी दोष की भावना । प्रमोदभावना वाला व्यक्ति दूसरों को अपने से गुणी व सुखी देखकर हृदय में जलता नहीं है, बल्कि आनंद धारण करता है । उनके सुख व गुणों को दूषित करने के बजाय उन्हें आगे लाने का प्रयत्न करता है ।

'गुणबहुमान का प्रभाव अचिंत्य है, और अपने से दूसरों के सुख की कीमत बहुत ज्यादा है ।' यह वस्तु समझे बिना सच्ची प्रमोद भावना प्रकट नहीं होती है । गुणबहुमान से नित्य नये-नये गुणों की प्राप्ति होती है । जिससे गुण का अर्थी गुण और गुणियों का सम्मान व

बहुमान किये बिना नहीं रह सकता है । जो व्यक्ति अपने सिवाय दूसरों के गुणों को जानता ही नहीं, जानने का प्रयत्न भी नहीं करता और जानने के बाद भी सम्मान करने की भावना वाला नहीं बनता, उसे गुणों की प्राप्ति संभव नहीं है । इसी तरह जो दूसरी सुखी आत्माओं के सच्चे सुख को जानता ही नहीं, जानने की जरूरत भी नहीं समझता और जानने के पश्चात् हृदय से खुश भी नहीं होता, तो उस आत्मा को भी वास्तविक सुख की प्राप्ति संभव नहीं है । गुणी आत्मा के बहुमान बिना गुण की प्राप्ति शक्य नहीं, वैसे ही सुखियों के सुख को देखकर हर्षित नहीं होने वाले को या ईर्ष्याग्नि से जलने वाले को भी कभी सच्चे सुख की प्राप्ति संभव नहीं है, सुलभ नहीं है ।

सुख दो प्रकार का है :– 1. वैषयिक 2. आत्मिक । विषयों से मिलने वाला सुख अपथ्य आहार से होने वाली तृप्ति जैसा है । परिणाम स्वरूप असुंदर है । इसलिए स्व अथवा पर के वैषयिक सुखों को देखकर संतुष्ट होना यह सच्ची प्रमोद भावना नहीं है ।

सच्चा सुख तो परिणाम से सुंदर, हित, मित और पथ्य आहार के परिभोग से होने वाली चिरकालीन तृप्ति के समान है । ऐसा सुख हमें मिलने पर जो आनंद स्वाभाविक रूप से होता है, वैसा ही सुख और आनंद दूसरों के सुखों को देखकर होना ही सच्चा प्रमोदभाव है ।

आत्मिक :– सुखों का सर्वोत्तम स्थान तो मोह आदि के संपूर्ण क्षय से उत्पन्न होने वाले अव्याबाध और शाश्वत सुखरूप मोक्ष में है । जो महापुरुष इन सुखों को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें देखकर हृदय में आह्लाद होना चाहिए । इतना ही नहीं बल्कि इस मोक्षसुख के मार्ग पर चलने वाले महामुनिवरों से लेकर सम्यग्दृष्टि और मार्गानुसारी तक के जीवों के गुणों व सुखों को देखकर हर्षित होना भी प्रमोदभाव का विषय है । इस हर्ष को प्रकट करने के मुख्य साधन-मन, वचन और काया हैं । मन से आदर, वचन से प्रशंसा और काया से वंदन, नमस्कारादि करने से प्रमोदभाव प्रकट हो सकता है ।

गुणी आत्मा की स्व-पर उभयकृत वंदन-पूजा देखकर सर्व इन्द्रियों से अभिव्यक्त होने वाला हर्ष जब स्वभावसिद्ध बनता है (जैसे कि वह स्वतः ही स्वभाव बन जाय) तभी प्रमोद भावना परिपूर्ण होती है ।

4. परदोषोपेक्षणमुपेक्षा :– दोष दो प्रकार के होते हैं–

1. साध्य 2. असाध्य ।

असाध्य दोषों वाली आत्मा को देखकर स्वाभाविक रीति से उनके प्रति मनुष्य को रोष प्रकट होता है । उस समय उपेक्षा (माध्यस्थ) भावना खास रूप से हितकारी बनती है । उपेक्षा भावना या माध्यस्थ भावना कर्म की प्रबलता और परतंत्रता का विचार कराती है और उससे आने वाले रोष का शमन कराती है ।

यह माध्यस्थभाव जैसे असाध्य दोषवाले प्राणियों के प्रति रखने का है, वैसे ही हमें सुख देने में सर्वथा असमर्थ ऐसे विषय सुखों के प्रति भी रखने का है ।

चार गतियों में विविध प्रकार के दुःखों को अनुभव करता जीव (कभी-कभी) कदाचित् मनुष्य और देवादि गतियों में सर्व इन्द्रियों को उत्सव कराने व मन को आह्लाद देने वाले विषयसुखों को भी पाना है । परंतु यदि मनुष्य उस समय उसकी असारता और क्षणविनश्वरता को नहीं जानकर उसके भोग में आसक्त बन जाय तो परिणामतः अनंत दुःख का अधिकारी बन जाता है । माध्यस्थ भावना के मर्म को समझने वाली आत्मा उस समय विषयसुखों की असारता और कादाचित्कता (जो कभी-कभी ही मिलता है और मिलते ही तुरंत चला जाता है) की जानकारी होने से उसके प्रति उदासीन भाव को धारण कर सकता है । और उससे वह बड़ी से बड़ी आपत्तियों से बचने की शक्ति प्राप्त करता है । माध्यस्थ भावना को भावित करने वाला यह जानता है कि दुनिया की कोई भी सचेतन अथवा अचेतन वस्तु सुख-दुःख की उत्पादक नहीं है । जबकि जीव का उन वस्तुओं पर रहा राग-द्वेष, सुख-दुःख की कल्पना कराता है । सुख-दुःख का कारण अन्य पदार्थ नहीं बल्कि मोह

आदि के विकार से अपनी आत्मा में उत्पन्न हुए रागद्वेष का परिणाम मात्र है । पदार्थ तो अपने स्वरूप में रहने हेतु व्यवस्थित बने हुए हैं । परंतु जीवस्वयं अपने स्वभाव को छोड़कर रागद्वेष रूपी विभाव में पड़ता है और उससे ही वह सुखी अथवा दुःखी होता है । इस तरीके से सुख का आश्रय पदार्थों को नहीं, परंतु अपनी ही आत्मा को मानने वाला ज्ञानी जीव जगत् के तमाम सचेतन या अचेतन पदार्थों पर माध्यस्थभाव धारण कर सकता है और वही माध्यस्थभाव की पराकाष्ठा गिनाई जाती है । ये चार भावनाएँ महापुरुषों को भी बारंबार अभ्यास से ही प्राप्त होती हैं । अनेक जन्मों में अभ्यास दृढ़ होने के बाद ही ये भावनाएँ आत्मसात् होती हैं । क्योंकि इनकी विरोधी अशुद्ध वृत्तियाँ जीव के साथ अनादि काल से लगी हुई होती हैं । **क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि वृत्तियाँ मैत्री-प्रमोद-कारुण्य आदि भावना की प्रतिपक्षी (विरोधी) हैं** और ये जीव से अनादि काल से लगी हैं । मैत्री भाव, करुणाभाव दृढ़ होने से द्रोह भाव और माध्यस्थ भावना परिणाम प्राप्त होने से क्रोधभाव चला जाता है ।

इन चार सुंदर भावनाओं से सभी आत्माएँ अपने जीवन को निर्मल बनायें ।

मैत्री पवित्रपात्राय, मुदितामोदशालिने ।
कृपोपेक्षाप्रतीक्षाय, तुभ्यं योगात्मने नमः ।।

मैत्री के पवित्र भाजनभूत, मुदिता को प्राप्त कर सदानंद से शोभायमान, करुणा और माध्यस्थ से जगत्पूज्य बने, योगस्वरूप हे वीतराग ! आपको नमस्कार हो ।

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुःखितः ।
मुच्यतां जगदप्येषा, मतिर्मैत्री निगद्यते ।। (योगशास्त्र 4-118)

कोई भी जीव पाप न करें, कोई भी जीव दुःखी न हो और सभी जीव कर्म से मुक्त बनें । ऐसी भावना को मैत्री कहा जाता है ।

वदनप्रसादादिभिः गुणाधिकेषु अभिव्यज्यमाना-
अन्तर्मक्ति-अनुरागः प्रमोदः ।

गुणों की भरमार हो ऐसे पुरुषों को देखकर, मुख की प्रसन्नता द्वारा अभिव्यक्त होता आंतरिक भक्ति रूपी अनुराग प्रमोद कहलाता है ।

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु, याचनामेषु जीवितम् ।
प्रतिकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते ।। (योगशास्त्र 4-120)

दीन, आर्त, भयभीत, जीने की याचना करने वाले (मरने की इच्छा नहीं हो) जीवों को दैन्यादि (दीनता या किसी अभाव) का प्रतिकार करने में समर्थ बुद्धि को कारुण्य कहा गया है ।

क्षमी यत्कुरुते कार्यं, न तत् क्रोधवशंवदः ।
कार्यस्य साधनी प्रज्ञा, सा च क्रोधेन नश्यति ।।

जो कार्य क्षमावान (सहनशील) कर सकता है, वह क्रोध करने वाला नहीं कर सकता है क्योंकि कार्य को साधने वाली प्रज्ञा है और क्रोध से वह नष्ट हो जाती है ।

आंतरिक गुंजन

मैत्री

मैत्री भावनुं पवित्र झरणुं, मुझ हैयामां वह्या करे,
शुभ थाओ आ सकल विश्वनुं, ऐवी भावना नित्य रहे 1

प्रमोद

गुणथी भरेला गुणीजन देखी, हैयुं मारुं नृत्य करे,
अे संतोना चरण-कमलमां, मुझ जीवननुं अर्घ्य रहे 2

करुणा

दीन, क्रूर ने धर्मविहोणा, देखी दिलमां दर्द रहे,
करुणाभीनी आँखोमांथी, अश्रुनो शुभ स्त्रोत वहे ।..... 3

माध्यस्थ

मार्ग भूलेला जीवन पथिक ने, मार्ग चींधवा उभो रहूँ,
करे उपेक्षा ए मार्गनी, तो य समता चित्त धरूँ 4

प्रारंभिक वक्तव्य

यह विश्व जीव-अजीव रूप है । हमारी आत्मा का जीव एवं अजीवों (सचेतन-अचेतन पदार्थों) के साथ अनादि काल से संबंध है । इन संबंधों को उचित न्याय नहीं देने के कारण ही हम अभी तक इस संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं । इन संबंधों के औचित्य का रहस्य मैत्री आदि चार भावनाओं में निहित है । इस रहस्य की समझ आने से (understandings) ही आध्यात्मिक विकास में शीघ्र बढ़ोतरी होती है ।

मैत्री अर्थात् सर्व जीवों के हित का चिंतन, प्रमोद अर्थात् गुणों का पक्षपात, करुणा अर्थात् दुःखीजनों के दुःख को दूर करने की चिंता (इच्छा), और मध्यस्थ अर्थात् स्वयं की विषम परिस्थिति के प्रति अथवा पापी जनों के प्रति उपेक्षा । सामान्यतः इन चारों व्याख्याओं को ऐसे समझना । विशेष व्याख्याएँ तो उस Particular भावना के विवेचन के प्रसंग में की जाएगी ।

मैत्री भावना :– सर्व जीवों के साथ हमारा संबंध कैसा होना चाहिए ? यह सिखाती है ।

प्रमोद भावना :– गुणवान पुरुषों और धर्म के शुभ आलंबनों (जिनप्रतिमा आदि) के प्रति हमारा संबंध कैसा होना चाहिए ? यह सिखाती है ।

करुणा भावना :– दुःखी प्राणियों के प्रति हमारा संबंध कैसा होना चाहिए ? यह सूचित करती है ।

माध्यस्थ भावना :– पापी जन, सर्व अचेतन वस्तुओं एवं उनके संपर्क में आने से उत्पन्न होनेवाले आत्मिक विभावों[1] के प्रति हमारे संबंध कैसे होने चाहिए ? यह बताती है । इस तरह इन चार भावनाओं का विषय समग्र सचेतन एवं अचेतन वस्तुएँ बनती हैं ।

---

1. विभाव :- आत्मा की अस्वस्थता (राग-द्वेष आदि) ।

ये चारों भावनाएँ जीव के लिए नई नहीं हैं, ये तो अनादि काल से विपरीत (वासना) रूप से जीव में रही हुई हैं । जीव का प्रत्येक अध्यवसाय (आत्मपरिणाम) इन चारों भावनाओं में से किसी एक में अवश्य रंगा हुआ होता है । धर्म की प्राप्ति के पूर्व इन चारों का विषय विपरीत होता है । धर्मप्राप्ति के पश्चात् वह सम्यक् बनता है ।

अधार्मिक अवस्था में मैत्री (स्नेह) केवल अपनी आत्मा जितना ही संकुचित होता है । अर्थात् आत्मा केवल अपने ही सुख की चिंता करती है जबकि धार्मिक अवस्था में वह सर्व के सुखों की (हित की) चिंता करती है । प्रथम अवस्था में प्रमोद केवल अपने गुणों के प्रति होता है । जबकि द्वितीय अवस्था में उस प्रमोद का स्थान सर्व गुणी जीव बनते हैं । पूर्व दशा में करुणा का विषय केवल व्यक्तिगत दुःख होता है अर्थात् **'मेरा दुःख दूर हो'** ऐसी संकुचित इच्छारूप होता है । जबकि उत्तर दशा में करुणा **'सर्व दुःखी जीवों के दुःख दूर हों'** ऐसी विशाल बन जाती है । अज्ञानदशा में मध्यस्थ (उपेक्षा) के विषय धर्म, धर्मात्मा और धर्म के साधन होते हैं । जबकि ज्ञानदशा में माध्यस्थ्य पाप, पापात्मा और पाप के साधनों के प्रति होता है ।

पूर्व अवस्था में दूसरे उनके प्रति मैत्री धारण करें, ऐसा उसे प्रिय होता है । परंतु वह दूसरों के प्रति मैत्री नहीं बताता । दूसरे उसके गुणों को देखकर आनंदित हों, ऐसा वह चाहता है । परंतु वह गुणवानों के प्रति प्रमोद धारण नहीं करता । अपने से सुखी आत्माएँ उसके प्रति करुणा धारण करें, यह उसे रुचता है परंतु उसके मन में दुःखी जीवों के प्रति करुणा उत्पन्न नहीं होती । उससे कोई पाप हो जाय तब दूसरे व्यक्ति मौन रहें, ऐसा उसे पसंद है । परंतु दूसरों के पाप के प्रति वह मध्यस्थ नहीं रह सकता है । धर्मप्राप्ति के बाद इन सभी भूमिकाओं में परिवर्तन आ जाता है ।

ऊपर के विवेचन से ऊपरी तौर पर समझ में आता है कि मैत्री आदि भाव जीव में (विपरीत तरीके से) अनादि काल से बसे हैं । परंतु धर्मप्राप्ति के बाद इन भावनाओं के विषय में परिवर्तन आ जाता है ।

इन भावनाओं के विषय जब विपरीत होते हैं, तब वे आर्त्त अथवा रौद्रध्यान रूपी होते हैं । जैसे कि केवल अपने ही सुख का चिंतन वह आर्त्तध्यान है ।

भावनाओं के विषय जब सम्यक् बनते हैं, तब ये भावनाएँ धर्मध्यान का अंग बन जाती हैं । जैसे कि **'सर्व के हित की चिंता'** रूप मैत्री यह धर्म ध्यान का ही एक अंग है । भावनाओं के विषय की विचारणा इस तरीके से भी की जा सकती है । ध्यानरूप[1] बन कर इन भावनाओं की विचारणा होती है ।

1. अधार्मिक अवस्था में जीव को अन्य जीवों के प्रति द्वेष, असूया, ईर्ष्या आदि होती हैं, वैसे ही धार्मिक अवस्था में आने से मैत्री आती है ।

2. पूर्व अवस्था में गुणीजनों के प्रति उपेक्षा या तिरस्कार होता है, वैसे ही उत्तर अवस्था में उनके प्रति प्रमोद आता है ।

3. पहली दशा में दुःखियों के दुःख पर जुगुप्सा (घृणा) या उपेक्षा होती है वैसे ही उत्तर अवस्था में करुणा आती है ।

4. पूर्व में अज्ञानदशा में पापी तथा पाप के साधनों की तरफ प्रमोद होता है, वैसे ज्ञान दशा आते ही पापी के प्रति माध्यस्थ होता है । तात्पर्य यही है कि जिस भावना का जो विषय नहीं होता, उसे उस भावना का विषय बनाना यह `विपरीतत्व' है । जैसे कि कई जीवों को धर्म के प्रति अरुचि होती है । वे लोग प्रमोद भावना का विषय जो कि **'धर्म'** है, उसके प्रति उपेक्षा रखते हैं । इसे ही भावना का **'अस्थान नियोजन'** कहा जाता है । ऐसा नियोजन ही संक्लेशों का मूल है ।

---

1. ध्यान :– अर्थात् चित्त की एकाग्रता ! जैन शास्त्रों में ध्यान के चार प्रकार बताये गये हैं । 1. आर्त्त ध्यान 2. रौद्र ध्यान 3. धर्म ध्यान और 4. शुक्ल ध्यान । इनमें आर्त्त व रौद्र ध्यान अशुभ होने से त्यागने योग्य हैं । धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान पवित्र होने से अनुकरणीय हैं । `अप्राप्त अनुकूलता का संयोग, प्राप्त अनुकूलता का वियोग, अप्राप्त प्रतिकूलता का संयोग और प्राप्त अनुकूलता के वियोग का चिंतन' यह **आर्त्तध्यान** है । यह आर्त्तध्यान जब रुद्र (उग्र) रूप धारण करता है, जैसे चोरी, हिंसा, असत्य आदि की परंपरा विकसित होती है, तब यह **रौद्रध्यान** कहलाता है । धर्म संबंधी विचारणा (जीवादि तत्त्वविचारणा, कर्मस्वरूप की विचारणा, लोक के स्वरूप की विचारणा आदि) **धर्मध्यान** है । धर्मध्यान की पराकाष्ठा के बाद होने वाले आत्मानुभव को **शुक्लध्यान** कहा जाता है ।

श्री शास्त्रकार भगवंत इन भावनाओं को ही धर्म का मूल कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन चार भावनाओं से धर्म की शुरुआत होती हैं। धर्म पुष्ट बनता है और धर्म के प्रत्येक अंग में इन चार में से एक भावना तो अवश्य होती है। हमारी मनोभूमि में भी जो 'धर्म' रूप कल्पवृक्ष को कायम रखना हो तो कल्पवृक्ष के मूल रूप इन भावनाओं को हमें पुष्ट करना ही पड़ेगा।

अपने चित्त में रही इन भावनाओं के इस वैपरीत्य (विपरीतता) को दूर कर के सम्यक्त्व को लाना, यह साधक का प्रथम कर्तव्य बनता है।

क्षयरोगवाले को जिस तरह वसंतमालती, सुवर्ण और अभ्रक आदि रसायन पुष्टि देते हैं, वैसे ही ये चार भावनाएँ आर्त्त और रौद्रध्यान से होने वाले आंतरिक क्षय का नाश करके धर्मध्यान रूप आत्मदेह को पुष्ट करती हैं। भटकती–(गलत बनी हुई) धर्मध्यान की धारा को ये भावनाएँ जोड़ देती हैं।

आत्मानं भावयन् नाभिः भावनाभिर्महामतिः ।
त्रुटितामपि संधत्ते विशुद्धां ध्यानसंततिम् ।।

(योगशास्त्र 4.122)

विवेक और वैराग्य से संपन्न, जितेन्द्रिय, स्थिराशय, उद्यमी, प्रशांत, धीर, सुप्रसन्न और अप्रमत्त ऐसे मुमुक्षुओं को अयोग्य पदार्थों में जाती मनोवृत्तियों को रोककर, इन चार भावनाओं को निरंतर भाना चाहिये।

इस पुस्तिका को लिखने में छद्मस्थपने से, उपयोग शून्यता से या प्रेसदोष आदि कारणों से कोई भूल रह गई हो, अथवा श्री जिनाज्ञा के विरुद्ध कुछ भी लिखा हो तो उसका मिच्छामि दुक्कडं देने के साथ वाचकों से उस क्षति को सुधारने की विनती करते हुए विराम देता हूँ।

लेखक : अनाहत

(सिद्धान्त महोदधि कृपासिंधु परम **पूज्य आचार्यदेव श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी** के विद्वान शिष्य **पू.श्री भानुविजयजी गणि** के शिष्य **मुनि तत्त्वानंदविजय**)

1

मैत्री भावना

UNIVERSAL LOVE

1. मैत्री भावना की प्रधानता :– चारों भावनाओं में मैत्री भावना का स्थान प्रथम है क्योंकि दूसरी भावनाओं का मैत्री में सहज ही समावेश हो जाता है । जैसे कि प्रमोद अर्थात् गुणीजनों के प्रति मैत्री बहुमान से युक्त चित्त, करुणा अर्थात् दुःखी या गुणहीन पुरुषों के प्रति मैत्री-अनुकंपा युक्त चित्त और माध्यस्थ अर्थात् निर्गुणी व दोषों से भरे ऐसे अविनीत जीवों के प्रति मैत्री, उपेक्षायुक्त चित्त ।

2. मैत्री के दो पहलू :– मैत्री भाव के दो पहलू हैं । विधेयात्मक और निषेधात्मक Positive and Negative अन्य जीवों के हित की चिंता यह प्रथम विधेयात्मक और किसी भी जीव के प्रति वैर-विरोध नहीं रखना, यह दूसरी निषेधात्मक मैत्री है । ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू जैसे हैं । ये दोनों मिलकर ही मैत्री को परिपूर्ण बनाते हैं ।

3. मैत्री की व्याख्याएँ :– मैत्री अर्थात् विश्वप्रेम । विश्वभर में रही सभी आत्माओं के प्रति निरुपाधिक (Unconditional) प्रेम रखना । मैत्री अर्थात् विश्व को मित्र की दृष्टि से देखना । जैसे हम जिस भाव से अपने परम मित्र को देखते हैं, उसी तरह उसी दृष्टि से विश्व की सभी आत्माओं का अवलोकन करना चाहिये, वही मैत्री है । सभी जीवों पर स्वयं से ज्यादा, अपनी आत्मा से भी अधिक प्रेम व स्नेह रखना, वही मैत्री है । जैसे माता-पिता को अपने बच्चों पर जितना स्नेह होता है, वैसा ही स्नेह सभी जीवात्माओं के प्रति रखना वह विधेयात्मक Positive मैत्री है ।

निषेधात्मक मैत्री :– अर्थात् मन, वचन, काया से कोई ऐसा कार्य न करें जिससे दूसरों को हमारी वजह से थोड़ा भी दुःख पहुँचे । किसी के भी बारे में बुरा नहीं सोचना वह है **मानसिक निषेधात्मक,** दुःखकारक वचन नहीं बोलना वह है **वाचिक निषेधात्मक,** किसी को भी शारीरिक कष्ट नहीं देना वह **कायिक निषेधात्मक** मैत्री है । ऐसे ही, इसी तरह के विधेयात्मक मैत्री के प्रकारों को भी समझ लेना चाहिये ।

निषेधात्मक एवं विधेयात्मक मैत्री को अन्य तरीके से भी समझा जा सकता है जैसे कि अमैत्री भाव से आत्मा को क्या नुकसान हो सकता है, उसके बारे में विचार करके उसे हृदय में ही रोक देना चाहिये । यही मैत्री की निषेधात्मकता है । मैत्री से मिलने वाली चित्त की प्रसन्नता के लाभों को सोचकर भी खुशी मिलती है । हृदय के मैत्री भाव के विचारों को आत्मा की संपूर्ण रुचि के साथ जोडना यही मैत्री की विधेयात्मकता है ।

जीवन की प्रत्येक अवस्था में मैत्री सभी तरह से कल्याणकारी है और अमैत्री हमेशा नुकसानदायक है । इस भावना को दृढ़ बना लेना चाहिये ।

जिस तरह हमारा जीवन जल, वायु आदि प्राकृतिक तत्त्वों के बिना नहीं चल सकता, उसी तरह **'मैत्री के बिना आत्मा के भाव प्राणों का नाश होता है ।'** इस तरह से हमें मैत्री के महत्व को समझना चाहिए । मैत्री के विचारों को इतना मजबूत बना लेना चाहिये कि किसी भी प्रसंग में हमारे लिये मैत्री भाव सहज बना रहे ।

कलिकालसर्वज्ञ भगवान श्री हेमचंद्राचार्यजी ने योगशास्त्र में मैत्री भाव की व्याख्या करते हुए कहा है :-

'कोई भी जीव पाप नहीं करे, कोई भी जीव दुःखी न बने और सभी जीवों को कर्मों से मुक्ति मिले' ऐसी बुद्धि या सोच को मैत्री भावना कहा जाता है ।

इस व्याख्या में मैत्री का संपूर्ण स्वरूप आ जाता है । इस व्याख्या में जैन दर्शन की सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया को दर्शाया गया है । पाप प्रवृत्ति के द्वारा आत्मा पौद्गलिक कर्म से बँध जाती है और उन कर्मों के विपाक से दुःखी बनती है । इस प्रक्रिया की दृष्टि से **'सभी जीव सुखी बनो'** इसी भावना के साथ **'सभी जीव पाप से मुक्त हो'** ऐसी भावना के फलस्वरूप सभी जीवों के सुख की तात्त्विक और परमार्थ की इच्छा व्यक्त होती है ।

कर्मसाहित्य में 'अन्याय' के विषय में हमें एक अद्भुत चाबी दी गई है । जब भी हम पर कोई भी अन्याय करता है तब हमें यही सोचना है कि :–

'अगले व्यक्ति को मेरा खराब करने का मन क्यों होता है ?

उसका कारण यह है कि पिछले भव में मैंने किसी का कुछ खराब किया है ।'

अगर मैंने किसी का कुछ भी बिगाड़ा नहीं होता तो आज मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ता । कारण बिना कुछ भी कार्य नहीं बनता । मेरी गलती के बिना अगला मेरा कुछ भी खराब करता है ऐसी सोच से कार्य के बिना कारण की सिद्धि होती है, ऐसी बात को पुष्ट करता है और यह मिथ्यादृष्टि है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि अगर सामने वाला मुझ पर अन्याय कर रहा है और यह मेरी ही किसी भूल का फल है तो मुझे उसको क्यों न मैत्रीपूर्वक सहन कर लेना चाहिये । मैत्री भाव से तो अन्यायी लोगों की पाशविक वृत्तियों का भी परिवर्तन हो जाता है । अन्याय का प्रतिकार करने के लिये यही सच्चा उपाय है । अथवा मेरा बिगाड़ने वाली आत्मा मोहनीय कर्म के उदय के कारण और मैं असातावेदनीय कर्म उदय के पराधीन हूँ । कर्म के उदय को कौन रोक सकता है ? इसलिये मुझे सहन कर लेना चाहिये । ऐसे विचार हमें मैत्री की तरफ ले जाते हैं ।

अशान्ति का मूल कारण :– मोह के कारण स्वयं से अधिक सुखी लोगों को देखकर सामान्य लोगों के मन मे ईर्ष्या भाव आ जाता है । ईर्ष्या अर्थात् दूसरों के सुख को सहन न करना । बारबार होने वाली ईर्ष्या से असूया की उत्पत्ति होती है । असूया अर्थात् दूसरों के गुणों में भी दोष देखना । जिस पर असूया हो जाती है उसके सारे गुण भी दोष ही लगते हैं ।

ईर्ष्यालु मनुष्य को, **''अच्छा हुआ कि उसे सुख मिला ।''** ऐसा विचार उसे स्पर्श भी नहीं करता । इस ईर्ष्या का मूल कारण है कि उसे दूसरों के जितना सुख नहीं मिला उसका असंतोष उसके अंदर में रहा है । सामान्य सभी जीवों के मन में मुझे ही सब सुख मिले ऐसी इच्छा अनादि काल से दृढ़ बनी हुई है । जब ये इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं तब उसमें संक्लेश (मानसिक दुःख) की उत्पत्ति होती है । इच्छा में से जन्मा यह संक्लेश जितना अधिक होगा जीवन उतना ही अशांत बनेगा । विश्व में हुए अनेक अनर्थों का मूल कारण यह इच्छा ही है ।

सभी को मैत्री की नजर से देखो :– ऊपर बताई गई इच्छा एक तरह की कुवासना है । उसे आत्मा का रोग कहें तो भी चलेगा । उस कुवासना के प्रतिकार के लिये मैत्री भावना परमौषधि है । दूसरों को सुखी देखकर उन पर ईर्ष्या या असूया न करके, उन्हें अपने मित्र के नजरिये से देखना चाहिये । **'सभी सुखी हों, कोई भी दुःखी न हो, सभी का दुःख दूर हो, मैं सभी का मित्र हूँ, सभी मेरे मित्र हैं । किसी के साथ मेरा कोई वैर नहीं, कोई भी मेरा अपराधी नहीं है ।'** इत्यादि भावना के रुप से देखना यह मित्र की आँख है । जिस तरीके से हम अपने परम मित्र को देखते हैं वैसी ही दृष्टि सभी प्राणियों के लिये होनी चाहिये । जिस प्रकार हमें अपने मित्र के सुख की चिंता होती है । हमारे कितने ही प्रयत्न मित्रों के दुःखों को दूर करने के लिये होते हैं । वैसे हमें मित्रों के गुण ही दिखते हैं । उनके दोषों को हम नजर-अंदाज कर देते है । मित्र उन्नति करता है तो हमें खुशी होती है । उसी तरह प्रत्येक जीव के प्रति

हमारा व्यवहार होना चाहिये । सूर्य सबको समान रूप से प्रकाश देता है, वैसे ही हमें भी सभी जीवों को समान दृष्टि से देखना चाहिये ।

मैत्री से संक्लेश का नाश होता है :– प्रत्येक आत्मा को खुद से स्नेह होता है । उस कारण वह हमेशा अपने सुख की ही चिंता में रहता है । **''सारे सुख मेरे पास हों, मुझे कोई भी दुःख न हो''** ऐसी वासना जीव को अनादि काल से लगी हुई है । सहर्ष सुख का अनुभव होते ही, 'यह सुख मुझे सदैव मिले' ऐसी राग वाली चित्तवृत्ति (वासना) उत्पन्न होती है । सुख के सारे साधन न मिलने से यह राग चित्त को विक्षिप्त कर उसे कलुषित कर देता है । इन वासनाओं के नीचे दबा हुआ जीव इष्ट वस्तु के वियोग तथा अनिष्ट वस्तु के संयोग से आर्त्तध्यान में चला जाता है और उसका संक्लेश बढ़ता जाता है । इस अवस्था में व्यक्तिगत स्नेह को खुद तक सीमित न रखकर, सभी जीवों तक स्नेह को विशाल बनाना चाहिये । **'सभी जीव सुखी बनें'** ऐसी भावना में व्यक्ति के स्वयं के दुःख विलीन हो जाते हैं और दुःख का कारण बने ऐसे संक्लेशों का भी नाश हो जाता है ।

दुःख की परम औषधि :– अपने ऊपर बिमारी आदि कोई भी दुःख आता है तब स्वयं को भूल कर दूसरों के दुःख दूर करने में अपना मन लगाने से परम शांति मिलती है । दूसरों की सहायता करने को स्वयं के दुःख टालने की अमोघ औषधि कहा है । सिर्फ स्वयं के दुःख की सोच से, दुःख मिटाने के लाखों प्रयत्न करें तो भी शांति नहीं मिलती है परंतु दूसरों की व उनके हितों की चिंता से शांति मिलती है । दुःख पुण्य से दूर होता है । शातावेदनीय कर्म और उस पुण्य की प्राप्ति दूसरों के दुःख को दूर करने से ही मिलती है । मैत्री भावना ऐसा अखूट पुण्य उपार्जन करवाकर, हमें असीम शांति देता है । इसी तरह सुखियों का प्रमोद भी हमारे सुख को बढ़ाता है ।

एक जीव जब दूसरे जीव पर अन्याय करता है तब उसके मन में दूसरे पर तीव्र वैर भाव भरा होता है । ऐसे वैर वाला मन अशांत हो

जाता है । इस अशांति का कारण चित में रही हुई मलिनता है । इस मलिनता से चित्त विवश हो जाता है और अन्यायी की ओर द्वेष के रूप में बहने लग जाता है । वैर से वैर का शमन कभी संभव नहीं है वह तो उल्टा और बढ़ जाता है । वैर के कारण मनुष्य को दूसरों का बुरा करने की इच्छा जागती है और यही इच्छा चित्त को अत्यंत उद्वेलित कर देती है । इस वैर वृत्ति के कारण हमारी अनेक शक्तियों का नाश हो जाता है और पुण्य भी जल कर खाक हो जाता है । केवल मैत्री भावना ही इस उल्टे प्रवाह को रोकने में सक्षम है । मैत्री से शक्तियों का नाश तो रुकता ही है, साथ-ही-साथ नवीन शक्तियों का भी विकास होता है और यही शक्तियाँ हमारे परोपकारादि अच्छे कार्यों में हमें ज्यादा योग्य बनाती हैं ।

मैत्री से होने वाले लाभ :– मैत्री भावना से क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष की प्राप्ति होती है । जहाँ सभी मित्र ही हैं वहाँ पर क्रोध क्यों और किस पर करना ? जहाँ सभी एक समान हैं वहाँ पर अभिमान क्यों और किस बात का करना ? जहाँ सर्वत्र मित्रता फैली है वहां पर छल कपट क्यों और किसलिये ? जहाँ सहृदयता है, वहाँ पर किसी के पास से कुछ भी लेने की प्रवृत्ति क्यों ? कहने का अर्थ यह है कि क्रोधादि कषाय, पवित्रता के सामने निर्बल हो जाते हैं और उससे चित्त की प्रवृत्तियाँ (मनःस्थिति) भी पवित्र बनती रहती है । ऐसी पवित्र चित्तवृत्तियों के प्रभाव से मैत्री भाव का साधक क्रोध नहीं करता और हर परिस्थिति में शांत रहता है । **वह अपने रूप, गुण, ऐश्वर्य आदि का अभिमान नहीं करता और निरभिमानी बनता है ।** किसी तरह की माया न करके सरलता को धारण करता है । उसके पास किसी तरह की कोई संपत्ति न हो और जीवननिर्वाह के लिये पर्याप्त साधन न होने पर भी साधक संतोष के परम सुख को अनुभव करता है । मैत्री भाव के साधक को कोई दुःख अथवा चिंता नहीं होती । **उसे सभी स्थितियों में और संयोग में सर्वत्र आनंद और परम शांति होती है ।**

मैत्री भावना से मिलने वाले दूसरे लाभ भी ध्यान में लेने जैसे

हैं । चित्त में रहे हुए द्वेष आदि मल, वस्तु के सही ज्ञान में प्रतिबंधक होते हैं । मैत्री भावना से ये मल धुल जाते हैं । जिससे निर्मल बोध (सरल सोच) की प्राप्ति होती है । मैत्री भावना से सभी प्राणी उसकी तरफ से निर्भय बन जाते हैं । परिणाम स्वरूप उसे भी सार्वभौमिक निर्भयता मिलती है ।

मैत्री भावना से हृदय कोमल बनता है, पुण्य मिलता है और साधना में आते हुए विघ्नों के सामने डट कर खड़े रहने के लिये वह बहुत बल भी मिलता है । ज्यादा क्या कहना ! मैत्री भावना तो तीर्थंकरों की ऋद्धि देने में भी समर्थ है । मैत्री भावना सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को और अधिक निर्मल बनाती है ।

परमवत्सल श्रमण भगवान श्री महावीर प्रभु का शासन अत्यंत गहरा है । उसी शासन का दिव्य प्रकाश उन्हीं आत्माओं में स्पंदित होता है जो अपने हृदय में मैत्रीभावना को सदा के लिये आरोपण कर देते हैं । श्री जैनशासन के आनंदरस को वही लूट सकता है जो निष्काम मैत्री के बल से स्वयं प्रसन्न रहता है और अपने समागम में आने वालों में भी मैत्री का अनंत आनंद जगाता है ।

'अमैत्री' का प्रभाव

अमैत्री, तीव्र द्वेष, तीव्र वैर से Hyper Tension (हृदय, रक्तचाप आदि) रोग उत्पन्न होते हैं । अमैत्री के परिणाम से शरीर की किसी ग्रंथि के रसायन, मुँह की लार आदि से भी नुकसान होता है और उसका असर शरीर पर होता है । क्रोध, तिरस्कार आदि प्रसगों में फेफड़े, हृदय, मस्तिष्क में रक्त प्रवाह बढ़ जाता है और रक्त प्रवाह मस्तिष्क की तरफ बढ़ने से शरीर का आरोग्य बिगड़ने की संभावना बढ़ती है ।

मैत्री भावना की खरी परीक्षा उपसर्ग (तकलीफ) के समय होती है । उपसर्ग करने वाले के प्रति भी जब हमारे चित्त में प्रेम का प्रवाह होने लगता है तभी वह उत्तम मैत्री कहलाती है ।

श्रमण भगवान श्री महावीरदेव की साधना के समय की बात है । प्रभु वन में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े थे । एक ग्वाले ने उन्हें दो बैलों को सँभालने को कहा । और वह गाँव की तरफ चला गया । वापस आने के बाद जब उसे बैल नहीं मिले तब उसने प्रभु को अनेक बार पूछा । परंतु ध्यान में लीन प्रभु की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला । परिणामस्वरूप उसका क्रोध भड़क उठा और उसने प्रभु के कानों में कीलें ठोक दी । कितनी कठोर सजा ! और वह भी निरपराध प्रभु को !!

ऐसी असह्य वेदना देने वाले के प्रति भी प्रभु के हृदय में उतनी मैत्री ! तीर्थंकर भगवंतों को जिन-जिन अतिशयों की प्राप्ति होती है उसका मूल कारण मैत्री भावना ही है ।

प्रतिकूल संयोगों में मैत्री भावना की सच्ची परीक्षा होती है । ग्वाले के प्रति लेशमात्र भी क्रोध नही । शैशवावस्था में मात्र अँगूठे के स्पर्श से मेरु पर्वत को कंपायमान करने वाले प्रभु की शक्ति कहाँ और इस ग्वाले की शक्ति कहाँ ? प्रभु चाहते तो क्या नहीं कर सकते थे ? परंतु क्षमारूप जल के स्वयंभूरमण समुद्र जैसे प्रभु और जिसके हृदय में मैत्री ही खेलती हो ऐसे महापुरुष कभी किसी को क्षति नहीं पहुँचाते । उन्हें कोई मृत्यु के मुख में धकेल दे तो उसके प्रति भी उनके मन में माता के जैसा वात्सल्य ही होता है । **''सामने वाले का कुछ भी न बिगड़े, उसका भी कल्याण हो ।''** ऐसी भावनाओं में वे निरंतर रमण करते हैं । उपसर्ग करते-करते थके हुए और निराश संगम देव को वापस जाते देख कर प्रभु की आँखों में करुणा के अश्रु आ गए थे ।

चंडकौशिक को प्रतिबोध करने के लिये जाते वक्त श्रमण भगवान श्री महावीरदेव के हृदय में मैत्री की पराकाष्ठा दिखती है । दृष्टिविष सर्प ने क्रूरतापूर्वक पूरी शक्ति के साथ प्रभु पर विषमय ज्वालाएँ फेंकी, कितने लोगों को इन विषमय ज्वालाओं के कारण मरना पडा परंतु मैत्री भावना के अमृत समुद्र ऐसे वीर प्रभु का ये ज्वालाएँ कुछ भी नहीं बिगाड सकीं । अमृत के सामने विष क्या कर सकता है ? विष को भी अमृत बनना पड़ता है ।

सर्प ने क्रोध से ऐसे डंक दिये कि प्रभु के पैरों से रक्त की धारा निकली पर यह रक्त सामान्य मानवों की तरह लाल नहीं था । जिसके हृदय में सभी जीवों के प्रति असाधारण वात्सल्य है उसका रक्त लाल कैसे हो सकता है ? माता के दूध की तरह सफेद ही होता है । सर्प को दूध जैसे रक्त में महापुरुष के दर्शन हुए । प्रभु के हृदय में रही हुई अनंत मैत्री को जैसे वह श्वेतवर्ण रुधिर में अपलक देख रहा था । प्रभु के हृदय में रही भावना से उसकी क्रूरता खत्म हो गई और हृदय में धर्म का प्रकाश उत्पन्न हुआ । इस तरह सर्प को भी साचन से सद्‌गति प्राप्त हुई । लोकोत्तर मैत्री भावना से अत्यंत भावित ऐसे सत्पुरुषों के समागम से परिवर्तन कैसे न हो ?

अर्जुनमाली जैसे हत्यारे को भी मैत्री के परम निधान प्रभु के समागम से धर्मात्मा बनने का मौका मिला था ।

श्री तीर्थंकर भगवंतों के समवसरण में जन्मजात वैर वाले जीव (शेर-बकरी) भी साथ बैठ सकते हैं, यह तीर्थंकरों की पूर्व सेवित मैत्री भावना का ही प्रभाव होता है । जिसका हृदय मैत्री भावनारूप अमृत से लबालब भरा हो उसके समीप आते ही अन्य जीवों के कषाय भी शांत हो जाते हैं । सत्पुरुष जिस रास्ते से गुजरते हैं, वहाँ पर **'कलह शांत हो'** इस विश्व पर अदृश्य रूप से एक महासत्ता कार्य कर रही है । जो पुरुष मैत्रीभावना से भावित होकर अन्य जीवों के हित की निरंतर चिंता करते हैं, उन पुरुषों को यह महासत्ता तीर्थंकर जैसी महान् पदवी से सुशोभित कर उनकी कद्र करती है ।

दूसरे लोगों (जीवों) को अगर हमारे साथ रहने से कषायों से शांति मिलती है तो यह हमारे अंदर रही हुई मैत्री भावना को मापने का थर्मामीटर है । दूसरे जीवों को हमारे साथ जितनी अधिक शांति मिलती है उतनी ही हमारी मैत्री को विकसित समझना चाहिए ।

श्री तीर्थंकर परमात्मा का जीवन वात्सल्य रूपी मैत्री से भरा होता है । उनके जीवन के प्रसंगों पर चिंतन कर साधकों को अपनी आत्मा को मैत्री में आगे बढ़ाना चाहिये ।

पुरुषादानीय श्री पार्श्वनाथ भगवान के पूर्व भवों में मैत्री भावना का विकास क्रमशः बढ़ता हुआ दिखता है । कमठ जैसे दुरात्मा में जैसे जैसे निर्दयता बढ़ती है वैसे-वैसे श्री पार्श्वनाथ भगवान अपने हृदय को मैत्री भावना के द्वारा अत्यंत कोमल बनाते हैं । वैर के सामने वैर नही बल्कि मित्रता से जीत मिलती है ।

श्री शांतिनाथ भगवान के दसवें भव में कबूतर के प्रसंग में मैत्रीभावना का अलौकिक उदाहरण देखने को मिलता है । एक पक्षी को बचाने के लिये अपने शरीर का पूरा मांस अपने हाथों से काट कर देने वाले मेघरथ राजा की इस सुंदर मैत्री भावना को जितना धन्यवाद दें, उतना कम है ।

जब किसी अनजान व्यक्ति को हमारे प्रति प्रेम होता है तब पूर्व भवों का हमारा एक दूसरे के प्रति का स्नेहसंबंध उसमें कारक होता है । जिसने पूर्व जन्मों में मैत्री भावना से अपनी आत्मा को भावित किया होता है उसे देखकर दूसरे जीवों को भी आनंद की अनुभूति होती है । जिसने पूर्व जन्मों में द्वेष को पोषित किया हो वह व्यक्ति अन्य भवों में सामान्यतः द्वेषी ही बनता है । वह स्वयं के लिये और दूसरों के लिये भी उद्वेग का कारण बनता है ।

जिनके सिर पर अत्यंत गर्मी में गीले चमड़े का पट्टा बाँधा गया ऐसे श्री **मेतार्य महाश्रमण** को याद कर हमें पवित्र बनना चाहिये । एक पक्षी को बचाने के लिये, पक्षी के अपराध को अपने ऊपर लेने वाले इन महामुनि की मैत्री भावना की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी कम है । **'मेरा जो भी हो पर दूसरे जीव को कष्ट न हो'** ऐसी उदात्त मैत्री भावना वाले श्रमणों के हृदय चौदह राजलोक की समग्र जीवराशि जितने विशाल होते हैं । उन्हें दूसरी आत्मा अपनी आत्मा से भी ज्यादा प्रिय होती है । दूसरों के कल्याण हेतु अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए वे सदैव तैयार रहते हैं ।

सिर पर जलती अँगीठी रखने वाले सोमिल श्वसुर के प्रति

अनन्य मैत्री को धारण करनेवाले श्रमणरत्न गजसुकुमाल को हम कैसे भूल सकते हैं ? द्वेष की अग्नि में जल रहा सोमिल अपने जमाई (गजसुकुमाल) को जलाकर राख करने के लिये उद्यत बना । फिर भी महामुनि ने शीतल जल जैसा हृदय रखकर अपने भावों की विशालता का परिचय दिया । कितनी महानता !

ध्यानस्थ दशा में जिस पर भूखे सियार टूट पड़े थे और शरीर से नोंच नोंच कर मांस खाने लगे थे । वैसे क्षमाश्रमण श्री अवंतिसुकुमाल की भावना कितनी उच्च मैत्रीपूर्ण रही होगी ।

जीवन के अन्य प्रसंगों में मैत्री को टिकाना सरल है । परंतु मरणांत उपसर्गों में मैत्री को टिकाना लोहे के चने चबाना जैसा है या उससे भी कठिन है । जैन शास्त्रकारों के अनुसार संसारी जीवों के शत्रु कर्म हैं । जिनके शत्रु समान होते हैं वे सभी मित्र कहलाते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि इस दृष्टि से देखने पर सभी संसारी जीव परस्पर मित्र हैं । कर्म के कारण उनमें द्वेष उत्पन्न होता है । कर्मों को खपाने में जो हमारी सहायता करते हैं उन शत्रुओं को भी महामुनि उपकारी मित्र मानते हैं । संहारक सियारों को भी उपकारक (कर्मक्षय करने में सहायक) मानने वाले महामुनि अवंतिसुकुमाल को मैत्रीभाव का साधक कभी भूल नहीं सकता ।

गुरु महाराज की आज्ञा से कड़वे तूंबड़े की सब्जी को परठने गये हुए धर्मघोष मुनि ने जब सब्जी की एक बूँद में अनेक जीवों की हिंसा देखी, तब मैत्री भाव से द्रवित हुआ उनका कोमल मन रो पडा ! जहरयुक्त शाक के कारण अनेक जीव मर जाएंगे, उन्हें बचाने के लिये स्वयं ही शाक को वापर कर उन्होंने मृत्यु को गले लगाया था ।

पाँच महाव्रत मैत्रीभावना की सिद्धि के लिये ही हैं । पाँच महाव्रतों में विधेयात्मक और निषेधात्मक उभय प्रकार की मैत्री रही हुई है । विधेयात्मक मैत्री की चरम सीमा श्री तीर्थंकर प्रभु में रही हुई है और निषेधात्मक मैत्री की चरम सीमा 14 गुणस्थानक सर्वसंवर में रही हुई

होती है । अहिंसा में मैत्रीभाव के साक्षात् दर्शन होते हैं । किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचानी यह अहिंसा है और यही निषेधात्मक मैत्री है । सत्य आदि महाव्रतों के गर्भ में भी यही आशय रहा हुआ है । जैन श्रमणों का जीवन संपूर्ण अहिंसामय होने से उनका जीवन (Practical) मैत्रीमय होता है ।

जैनों का कर्मसाहित्य भी विश्व में बेजोड़ है । कर्मसाहित्य विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों ही मैत्री को उत्तेजित करने वाला है । यह इसका अभ्यास करनेवाले भलीभाँति जानते हैं ।

1) मैत्री का साधक प्रत्येक जीव को आत्म तुल्य समझता है । और सभी के कल्याण की इच्छा रखता है । दूसरों को सुखी देखकर, **'वे और ज्यादा सुखी हों'** ऐसी इच्छा रखता है । उनके सुख की ईर्ष्या कर किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाता है ।

2) जिस तरह एक व्यक्ति अपने मित्र को अत्यंत स्नेह की दृष्टि से देखता है, उसके गुणों की प्रशंसा करता है वैसे वैसे उसके दोष गल जाते हैं । इस तरह साधक सभी जीवों को मित्र की दृष्टि, से देखता है । उनके गुणों की अनुमोदना करता है । उनके दोषों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है कि वे कर्मजनित हैं । कोशिश करता है कि उनके दोष भी सुधर जायें ।

3) मैत्री का साधक किसी का बुरा नहीं सोचता । इसके बावजूद अगर कोई खराब विचार आ भी जाय तो उसका प्रायश्चित्त करता है । साधक का ऐसा मानना है कि, 'किसी भी जीव के प्रति मैंने बुरा सोचा तो निश्चय ही मैं जिनाज्ञा से बहिष्कृत हो जाऊंगा', सर्व जीवों के प्रति परम मित्र तुल्य जिनाज्ञा का भंग न हो, ऐसे भाव में वह सदा सतर्क रहता है ।

4) मैत्रीसाधक किसी की निंदा नहीं करता । मैत्रीभाव साधक को सदैव निंदा रूप राक्षसी से दूर रहना चाहिये । जिनके चित्त में पर निंदा रूप विषवृक्ष का मूल होता है, उनके चित्त में कभी भी धर्मकल्पवृक्ष नहीं

उगता है । निंदा करने वाला अपनी आत्मा को उच्च और दूसरों की आत्मा को अपने से नीचा मानने का भयंकर पाप करता है । जिसके फलस्वरूप इस लोक व परलोक में अनेकगुणी निंदा को पाता है और भवांतर में कर्मसत्ता उसकी वाक्शक्ति का क्षय करती है ।

5) साधक अपनी निंदा करने वाले के प्रति अनन्य मैत्री को धारण करता है । अपराध नहीं करने के उपरांत भी अगर कोई उसके विरुद्ध बोलता है तो भी वह सामने वाले का अहित नही चाहता है । उसके कल्याण की कामना करता है ।

6) मैत्री का साधक, जिसकी आत्मा के कण-कण में मैत्री भावना रमती हो ऐसे श्री पंचपरमेष्ठी भगवान का (श्री नमस्कार महामंत्रादि द्वारा) निरंतर ध्यान करता हैं ।

7) साधक, 'मेरा काम दूसरे करें' ऐसी इच्छा नहीं रखते हैं । दूसरों के सभी शुभ कार्य करके देने की इच्छा को धारण करते हैं । अपना काम दूसरों से नहीं कराना निषेधात्मक मैत्री और दूसरों का हित करने वाले सभी कार्य (यथाशक्ति) विधेयात्मक मैत्री भावना से वातावरण को प्रेम व परोपकार से सुवासित करते हैं ।

8) साधक का जीवन क्षमाप्रधान होता है । क्षमा मैत्री का ही अंग है । अपनी भूल होने पर तुरंत ही माफी माँग लेते हैं । दूसरों से भूल होने पर उन्हें तुरंत क्षमा कर देते हैं । 'क्षमा करना और क्षमा माँगना आराधना है ।' ऐसी श्रद्धा उसके मन में बहुत मजबूत होती है । सभी वैर विरोध का मूल क्षमा का अभाव है । जहाँ क्षमा है वहाँ कोई वैर विरोध लम्बे समय तक नहीं टिकता । रात्रि में निद्रा के पूर्व साधक सभी सिद्धों की साक्षी में कहता है कि **'मेरे मन में किसी के प्रति कोई वैर नहीं है ।'** ऐसे स्वीकारभाव के कारण वह वैर विरोध को तुरंत खमाता है और भूल जाता है । पुराने वैर याद करके चित्त को कलुषित नहीं करता है ।

9) श्री तीर्थंकरों का उपदेश भी मैत्री (अहिंसा, क्षमा) प्रधान है। श्री तीर्थंकर भगवान ने अपने उपदेश में सूक्ष्म से सूक्ष्म अहिंसा और क्षमा बताकर अपने जीवन में आचरण कर जगत् के सभी जीवों में सक्रिय मैत्री को फैलाया है। साधक भी उसी उपदेश का अनुकरण कर मैत्री-भावना की वृद्धि के लिये सतत प्रयासरत रहता है।

मैत्री की साधना का क्रम

1) 'जिसने मुझ पर उपकार किया है उसके साथ मैं मित्र की तरह रहूंगा, उसके प्रति मैं कभी द्रोह नहीं करूंगा' ऐसी भावना अपने मन में निश्चय करनी चाहिये। इस भावना से कृतज्ञता गुण की सिद्धि होती है।

2) कृतज्ञता का कार्य करने के लिये हर कोई प्रेरित होता है। उपर्युक्त सीढ़ी पर चढने के बाद सभी स्वजनों को अपनी मैत्री भावना का विषय बनाना चाहिये। ऐसी भावना से स्वजनों में संबंध प्रगाढ़ बनते हैं और वहाँ रहे अनेक क्लेशों का अंत होता है।

3) उसके बाद हमारे यहाँ रहे हुए नौकर वर्ग आदि के प्रति मित्रता रखनी चाहिये।

4) तत्पश्चात् हमारे संबंध में आने वाले सभी व्यक्तियों को मित्रता की नजर से देखना चाहिये।

5) ऐसी भावना से सभी को आपसे मैत्री की इच्छा होती है। बाद में आपकी मैत्री भावना के अनुक्रम में साधर्मिक, ग्रामीण, प्रांतीय, देशीय और समस्त मानव जाति को मिलाना चाहिये।

6) अंत में हमें सभी जीवों का मित्र बनना चाहिये।

मैत्री भावना के अनुकूल विचारधारा

1) जीव परस्पर उपकारी हैं। ``एक दूसरे पर उपकार करना यह जीवों का स्वभाव है।'' कोई भी जीव दूसरे जीव पर अपकार नहीं करता।

परंतु कर्म के अधीन होकर वह दूसरे जीव पर अपकार करने के लिये प्रेरित होता है । ऐसे संयोगों में हम उसे अपराधी या शत्रु नहीं मान सकते ।

2) यह मानव भव अत्यंत दुर्लभ है । उस भव में धर्म की ही साधना करनी चाहिए । क्षमा, औदार्य, सज्जनता आदि अनेक सद्‌गुणों को रोपित और विकसित करने के लिये मानव-जन्म मिला है । इसमें क्रोध, ईर्ष्या, असुया और वैर के लिये स्थान क्यों ?

3) इस भव में की हुई वैर विरोध की परंपरा अनेक भवों तक चलती है । चंडकौशिक आदि के दृष्टांत इन बातों का समर्थन करते हैं । रावण और लक्ष्मण के भवों में बोये हुए वैर के बीज उन्हें अभी तक नरक में लड़ा रहे हैं । इस तरह वैर बाँधने वाले जीव अपने ही सुख के मार्ग में काँटें बिछा देते हैं तो सुज्ञ पुरुष को वैर की परंपरा का सर्जन ही क्यों करना है ?

4) वैर विरोध के बदले मैत्री भाव का बीजारोपण किया जाय तो इस जीवन और आगामी अनेक भवों में सुख, शांति, पवित्रता और चित्त की स्वस्थता आदि अनेक हित होते हैं ।

5) इस संसार में अनादि काल से भ्रमण करते हुए सभी जीवों का मेरे साथ माता, पिता, भाई, भाभी, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि रूप में कई बार संबंध जुड़ा है, तो इन्हीं कुटुंबीजनों के साथ ईर्ष्या, असूया आदि रखना क्या मुझे शोभा देता है ? यह विश्व मेरा कुटुंब है । **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** ।

6) इस भव चक्र में मैं अनादिकाल से भटक रहा हूँ । जगत् के जीव पूर्व के अनेक भवों में मेरे मित्र बने है ! इस प्रकार वे मेरे बंधु हैं । बंधु के साथ क्या वैर-विरोध करना उचित है ? (यही सच्चा विश्व बंधुत्व है ।)

7) इस विश्व में मनुष्य, गाय, ऊंट आदि जो विचित्रता दिखाई देती हैं, वह सब कर्मकृत है । गाय, ऊंट, गधा, चींटी, देव, नारक आदि सभी में आत्मा तो एक समान ही है, उन जीवों में भव्यत्व भी हैं

(भव्यत्व) मोक्ष गमन की योग्यता । ऐसे समान गुणवाले भव्य जीवों के प्रति लडना क्या उचित हैं ?

मैत्री भावना को दृढ़ करने के लिये ऐसे अनेक विचारों को ध्यान में रखा जा सकता है । मुमुक्षु आत्माओं में ऐसे विचार स्वयं ही स्फुरित होते रहते हैं । प्रत्येक आत्मा में रहे हुए आत्मतत्त्व के प्रति का प्रेम यही मैत्री भावना है । जीवों की मदद करना, उनका सदा हित चिंतन करना, जो उन्हें पसंद नहीं है, वह नहीं करना और उन्हें सर्व तरीके से अभय मिले तथा सब का कल्याण हो ऐसे उपदेश द्वारा हम अपनी आत्मा में रहे आत्मतत्व के प्रति प्रेम व्यक्त कर सकते हैं ।

''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'' `जो हमारे लिये प्रतिकूल है वैसा आचरण दूसरों के लिये नही करना ।' यह सभी शास्त्रों का सार है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो `मैत्री' ही सभी शास्त्रों का सार है । स्वयं दुःख सहन करते हुए दूसरों को सुखी करने का अगाध प्रयत्न करती है तब वह आत्मा मैत्री भावना में बहुत ही आगे बढ़ती है । साधक दूसरों के लिये समझ-बूझ और आनंद के साथ (तत्त्वज्ञान युक्त) जो दुःख सहन करता है, उसके लिये परिणाम दुःख जैसा कुछ भी नहीं रहता है । सभी जीवों के सुख की चिंता में इतना सामर्थ्य होता है कि उससे साधक का दुःख भी सुख रूप बन जाता है । बाहर से कष्ट में दिखते साधक अंतर से मैत्रीभावना का अनुपम आनंद अनुभव करते रहते हैं । ऐसा सुख केवल अनुभव से ही जान सकते हैं ।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म और सभी जीवों को परम सुख देने वाली अहिंसा को बताने वाले श्री तीर्थंकरों के हृदय में सभी आत्माओं के आत्म तत्त्व के प्रति अगाध प्रेम होता है । 'सर्व' जीवों को सर्व दुःखों में से उबारकर धर्म के द्वारा उन्हें परमसुख के धामरूप मोक्ष में लेकर जाऊँ, ऐसा भव्य आशय सर्व तीर्थंकरों का होता है । यह आशय अर्थात् दिव्य मैत्री, ऐसी दिव्य मैत्री के प्रभाव से ही वे तीर्थंकर पदवी प्राप्त करते हैं ।

अपनी आत्मा को और समग्र जगत् को सुखी बनाने का अमोघ उपाय मैत्री भावना है । हमें संकल्प करना चाहिये कि :–

``जहाँ तक मेरी शक्ति पहुँचती हो, वहाँ तक मेरे पास जो कुछ भी है वह सब दूसरों के कल्याण हेतु सहर्ष देना है । इतना ही नहीं परंतु खुद के व्यक्तिगत सुख के लिये जगत् से कोई इच्छा नहीं रखनी है ।

आइए हम सभी मिलकर रोज (उपर्युक्त) मैत्री भावना से अपने हृदय को विशाल और पवित्र बनाएँ ।

`मैं सबका मित्र हूँ, सभी मेरे मित्र हैं, कोई भी पाप न करे, कोई भी जीव दुःखी न बने, सभी सुखी हों, सभी निरामय बनें, किसी के साथ मेरा वैर नहीं, कोई भी मेरा अपराधी नहीं, सभी को धर्म मिले, वैर, ईर्ष्या, असूया, अपमान, मत्सर, द्रोह करने वाले प्राणियों की अशुभवृत्ति का नाश हो, सभी के राग-द्वेष शांत हो जायें, सभी परोपकारी बनें, सभी को समत्वरूप (समता) महाअमृत मिले, सभी जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना में निरंतर आगे बढ़ें, सभी जीव कर्मों से मुक्त बनें और सभी आत्माएँ परम कल्याण को प्राप्त करें ।

मैत्री भावना की साधना में बसे अमृतरस को कलम में लाना अशक्य है । उस अमृतरस का आस्वाद केवल अनुभवगम्य है ।

परम पावनी मैत्री भाव की साधना द्वारा सर्व जीव परमोच्च मैत्री को समझें, उस भाव में लीन बनें और सभी जीव, सभी जीवों का कल्याण करने वाले बनें, यही शुभ कामना ।

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखीभवतु लोकः ।।

मैत्री भावना (संक्षिप्त)

1. निमित्त कारण :– सुखी या पुण्यवान जीव, अथवा सभी जीव ।

2. निमित्त कारण के संघर्ष में आनेवाला उपादान कारण :– स्वार्थ, स्नेह, अपने व्यक्तिगत सुख का राग, दूसरों का बुरा करने की वृत्ति, द्वेष, अपने पर उपकारों को करने वाले जीवों की विस्मृति, कृतघ्नता, अहंकार, अज्ञान, मोह आदि ।

3. उपादान कारण रूप वृत्तियों का आकार :– मुझे ही सारे सुख मिलें, कोई भी दुःख न आये, मेरे साथ अन्याय करने वाला दुःखी बने, दूसरों को कोई भी सुख न मिले ।

4. निमित्त और उपादान के संघर्ष से उत्पन्न होने वाली चित्त स्थिति :– सुखी पर ईर्ष्या, असूया, द्वेष आदि । कोई भी जीव अपने सुख में अपना भाग (हिस्सा) माँगे या दुःख दे तब उनके साथ क्रूरता, क्रोध के भाव आना, इत्यादि ।

5. ऐसी खराब चित्त स्थिति से होनेवाले अनर्थ :– अपने साथ-साथ दूसरों के सुखों का नाश, कलह, मारामारी, खून, युद्ध, अशांति, क्लेश आदि ।

6. चित्तमल नाशक और सुखवर्धक उपाय :– अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को छोडकर **'सभी सुखी बनें', 'कोई भी दुःखी न हो', 'सभी को सद्धर्म की प्राप्ति हो', 'सभी के अशुभ कर्मों का नाश हो'** आदि शुभभावना, ईर्ष्या, असूया का त्याग, सभी जीवों को मित्र की नजर से देखना, 'सभी मेरे मित्र हैं, कोई भी मेरा शत्रु नहीं' ऐसी भावनाओं का सतत निरंतर अभ्यास, **'शिवमस्तु सर्वजगतः'**...**'मा कार्षित् कोऽपि पापानि'**...आदि श्लोकों का बारंबार रटन करना । परममैत्री से परिपूर्ण ऐसे श्री परमेष्ठी प्रभु की भक्ति, **'धर्म-बीज'** जैसी पुस्तकों का मनन, परोपकार, दूसरों का काम करने का उत्साह, स्वावलंबी जीवन,

क्षमायाचना, सरलता, नम्रता की साधना, पहले बताए हुए विश्वनियमों में ध्यान देना, उदाहरणों का संग्रह आदि ।

7. सभी उपायों का संग्राहक शब्द :– मैत्री भावना ।

8. संक्षिप्त व्याख्या :– `परहित चिंता=मैत्री' ।

9. प्रकार :– उपकारी विषयक, स्वजनविषयक, आश्रित विषयक, परिचित विषयक, साधर्मिकादि विषयक, देशविषयक, मानवताविषयक, सर्वजीव विषयक आदि प्रकारों की मैत्री ।

10. दृष्टांत :– श्रमण भगवान महावीर, मेघरथ राजा, श्री गौतम स्वामी ।

11. कुछ सचोट विचार :– परस्परोपग्रहो जीवानाम्, अपराधी कर्म है, मानवभव की दुर्लभता, वैर के कटु फल, विश्वबंधुत्व, **वसुधैव कुटुम्बकम्,** निश्चय से सभी जीवों की समानता, संग्रहनय से आत्मा एक है, व्यवहार से दिखती विचित्रता कर्मकृत है, स्याद्वाद ही मैत्री का सर्वश्रेष्ठ साधन है, अहिंसामय और क्षमाप्रधान जिनप्रवचन मैत्रीमय है, श्री जिनशासन के रहस्यों के लिये मैत्री बहुत सुंदर क्षयोपशम प्रदान करती है ।

12. मैत्री से होने वाले लाभ :– अपने साथ-साथ दूसरों के सुख में वृद्धि, शांति, वैर का नाश, आरोग्य, निर्मलता निर्भयता, परोपकारिता, कृतज्ञता, औदार्य, विशालता, सज्जनता, क्षमा, सरलता जैसे गुणों का विकास, सत्त्व-शील प्रज्ञा में वृद्धि, चित्त की प्रसन्नता, धर्म में प्रगति, दुःखों का नाश, सभी के प्रति सद्भाव और तीर्थंकरत्व पदवी प्राप्ति इत्यादि ।

2

प्रमोद भावना

1. प्रमोद का विषय :– मैत्री में सभी जीवों के हित की चिंता, सभी जीव सुखी बनें, कोई भी जीव दुःखी न हो, ऐसी भावना थी । प्रमोद भावना में जिन जीवों को तात्त्विक सुख मिल चुका है जिन्हें अभी किसी भी प्रकार का दुःख नहीं है अथवा तात्त्विक सुख को पाने की राह में आने वाले सभी दुःखों का क्षय करने में समर्थ हैं और मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हैं, उन महान् आत्माओं को देखकर, उनके बारे में सोच कर, और विचार कर उनका निदिध्यासन करना चाहिये । उनके गुणों को देखकर, उनका विचार करके उन गुणों को प्राप्त करने की इच्छा रखकर उन गुणों को आत्मा में आरोपित करना अथवा श्री अरिहंत परमात्मा द्वारा दर्शित मोक्षमार्ग को देखकर, विचार और मनन करके जीवन में उतारकर और उससे होने वाले लाभों पर मन को स्थिर करके हृदय में आनंद का अनुभव करना चाहिये, हर्ष उत्पन्न होना चाहिए । प्रसन्न होना चाहिए । मैं धन्य हूँ, कृतपुण्य हूँ, ऐसा सोचना चाहिए ।

कहने का तात्पर्य यह है कि गुणवान पुरुष, उनके गुण और उनका बताया हुआ सुंदर धर्म इन तीनों की जिसमें अनुमोदना हो, वह प्रमोद भावना है ।

2. चार भावनाओं में कार्य-कारण भाव :– मैत्री भावना कारण है और प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ ये तीन कार्य हैं । जिनमें सच्ची **''मैत्री''** प्रकट हो चुकी है । उनमें क्रमानुसार अन्य तीनों भावनाएँ प्रकट होने वाली हैं । मैत्री आने का तात्पर्य **'सभी जीव सुखी बनें'** ऐसी इच्छा का प्रकट होना । उसके फलस्वरूप प्रथम फल, प्रमोद भावना का आना, दूसरा फल, जो दुःख में हैं उनके प्रति करुणा भाव और तीसरे

परिणाम के रूप में जो सुख लेने और दुःख को दूर करने वाले मार्ग के प्रति उपेक्षावृत्तिवाले, उनके प्रति माध्यस्थ प्रकट होता है । यह तो सामान्य कारण और कार्यभाव हुआ । कितनी बार तो ऐसा भी होता है कि पहले प्रमोद भावना आती है और फिर बाकी की तीन भावनाएँ आती हैं ।

3. वृत्तियों की विपरीतता :– 'धर्म का फल' सभी जीवों को बहुत अच्छा लगता है परंतु धर्म आचरण करना पसंद नहीं है । पाप का फल पसंद नहीं आता परंतु पाप से दूर नहीं रह सकता । धर्म से उपेक्षा के कारण व्यक्ति धर्मी आत्माओं के प्रति भी उपेक्षाभाव वाला बन जाता है । वास्तव में उपेक्षा पाप और पापियों की तरफ होनी चाहिये । परंतु पाप के प्रति उपेक्षा के बजाय प्रमोद–मानसिक हर्ष है और धर्म तथा धर्मी आत्माओं के प्रति आनंद के बजाय उपेक्षा है । वैसी उपेक्षावृत्ति और प्रमोदवृत्ति जीव में अनादि काल से रही हुई हैं परंतु वे अयोग्य स्थानों पर जमा हो गई हैं । इनको यथास्थान पर नियोजित करना यही सभी शास्त्रों का निर्देश है, उद्देश्य है ।

मोह की प्रबलता के कारण जीव को दूसरे प्राणियों की अच्छी बातों व सुकृत की तरफ द्वेष होता है । उसके कारण सदाचारी पुरुषों में बसे हुए सदाचार को देखकर उन्हें कोई हर्ष नहीं होता । इसी तरह दूसरों का सुख, दूसरों के गुण और धर्म के आलंबन (जिनमंदिर आदि) को देखकर वे आनंद महसूस नहीं कर सकते हैं । इतना ही नहीं उल्टा उन्हें ईर्ष्या भाव होता है । स्वयं में कोई भी गुण न हो तो भी कोई उनकी प्रशंसा करे तब वे खुश होते हैं ।

जबकि गुणवान पुरुष गुणसंपन्न होते हैं और उनके गुणों की प्रशंसा करे तो भी उन्हें पसंद नहीं आता । गुणी पुरुषों को देखकर उन्हें ईर्ष्या व असूया उत्पन्न होती है । इसी ईर्ष्या और असूया की वजह से उनका मन और भी कलुषित बन जाता है । दूसरों की महत्त्वपूर्ण बात उन्हें एकदम तुच्छ और अपनी छोटीसी बात बड़ी महत्त्ववाली लगती है । दूसरों के पर्वत (मेरु) जैसे गुण राई जैसे लगते हैं और अपने राई

जैसे गुण मेरु (पर्वत) जैसे लगते हैं । निर्गुणी जैसे स्वयं को कोई वंदन करे तो अच्छा लगता है और गुणी पुरुषों को कोई वंदन करे तो उनका उपहास (मजाक) किया जाता है । गुणहीन होते हुए भी वे अपनी प्रशंसा करते हैं और गुणवान पुरुषों की निंदा करते हैं । इन सभी आदतों व स्वभाव के कारण वे योग (मोक्षमार्ग की) प्राप्ति से दूर रह जाते हैं ।

4. ऐसी वृत्तियों का कार्य :– अशुभ वृत्तियाँ शत्रु का कार्य करती हैं । जो अपनी ही श्लाघा करता है, वह जगत् में निंदनीय बनता है । जो गुणियों की प्रशंसा नहीं करता है, उसकी दुनिया में भी प्रशंसा नहीं होती । जो गुणी पुरुषों के आगे नहीं झुकता, उसे दूसरे भी कोई नमन नहीं करते हैं । हमें जो भी आदर सम्मान मिलता है उसका कारण यह है कि हम गुणी आत्माओं का आदर करते हैं, उन्हें सम्मान देते हैं । हमें जो प्रशंसा मिलती है तो उसके पीछे का कारण है कि हमने पूर्व में गुणी पुरुषों की प्रशंसा की और उसके फलस्वरुप शुभ अदृश्य पुण्य हमें मिला है । उसका कारण तीर्थंकरों के प्रति पूर्व जन्मों में किया गया प्रमोद है ।

परम प्रकृष्ट पुण्य प्रकृतिरुप जो तीर्थंकरों[1] के कर्म हैं, उनके उपार्जन का मुख्य कारण प्रमोद भाव की पराकाष्ठा है । तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करने वाले पूर्व के तीर्थंकरों के प्रति उत्कृष्ट प्रमोद भाव को धारण करते हैं । ऐसे प्रमोद के कारण ही वे महात्मा संपूर्ण जगत् के प्रमोद का उत्कृष्ट विषय बनते हैं ।

5. प्रमोद की व्याख्या :– योगशास्त्र की टीका में लिखा है कि **``वदनप्रसादादिभिः गुणाधिकेषु अभिव्यज्यमाना अन्तर्भक्ति-अनुरागः प्रमोदः ।''**

'गुणाधिक पुरुषों को देखकर मुख की प्रसन्नता द्वारा दिखाने वाला, महसूस होने वाला आंतरिक भक्ति रूप जो अनुराग (प्रेम) है, वही प्रमोद है ।'

---

1. तीर्थंकर नामकर्म को उपार्जन करने वाले महात्मा को योग की सभी विभूतियाँ वरण करती हैं और इससे वे धर्मतीर्थ के प्रवर्तक बनते हैं । (कर्मग्रंथ)

प्रमोद अर्थात् महात्माओं के अंदर दिखने वाला शम, दम, औचित्य, धैर्य, गांभीर्य आदि गुणों की तरफ खींचने वाला मानसिक प्रहर्ष । यह मानसिक प्रहर्ष, जो कि उन महात्माओं के प्रति विनय, वंदन, सेवा, स्तुति, वर्णवाद (प्रशंसा) इत्यादि कायिक और वाचिक योगों से अभिव्यक्त होता है । किसी महापुरुष को देखकर हमें रोमांच हो जाय, आँखों से हर्ष-अश्रु बहने लगें, कान उनके वचन सुनने को आतुर हो जायें, उनके गुणगान करने के लिए जीभ तत्पर बने और बोलते हुए कंठ भर जाय तब समझना चाहिये कि यह उत्कृष्ट प्रमोद है ।

6. 'अमृतवेल' में प्रमोद भावना :– गुणवान ऐसे किसी भी व्यक्ति के गुणों के प्रति हमें मानसिक प्रहर्ष रखना चाहिए । पू. उपाध्याय भगवान श्री यशोविजयजी महाराज अपनी **'अमृतवेल की सज्झाय'** में कहते हैं कि, **''हे चेतन ! श्रावकों में देशविरतिपना (आंशिक संयम) बसा है और सम्यग्दृष्टि आत्माओं में जो श्रद्धारूप सदाचार है तुम उसकी अनुमोदना करो ।''**

'हे चेतन ! अजैनों में भी जिनवचन के अंशमात्र भी अनुसरण करने वाले जो जो अहिंसादि गुण हैं, उन सभी गुणों की तुम अनुमोदना करो । क्योंकि उन गुणों की अनुमोदना से, प्रमोद से, सम्यक्त्व का बीजारोपण होता है ।'

'हे चेतन ! जो जीव पाप करते समय तीव्र भाव से (निर्दयता) नहीं करते हैं, जिन्हें संसार के पदार्थों पर आसक्ति नहीं है ।' जो सदैव उचित स्थिति में रहते हैं, उनकी भी तुम अनुमोदना करो । हे चेतन ! दूसरों के थोड़े-बहुत गुण भी अगर सुनने में आएँ तो, वह सुनकर तुम्हें हर्ष प्रमोद महसूस होना चाहिए । उसी तरह तुम्हें स्वयं में थोड़े बहुत भी दोष दिखें तो तुम अपने आप को निर्गुण समझो ।

7. गुणदृष्टि :– गुणदृष्टि तो आगे बढ़कर हमें बताती है कि इस जगत् में जितनी भी छोटी-बड़ी वस्तुएँ हैं उन सबसे सिर्फ गुण ही ग्रहण करो । जो तुम्हारे पास ऐसी दृष्टि होगी तो उस समय संपूर्ण विश्व तुम्हें

गुणों से भरा हुआ दिखाई देगा और अगर तुम्हारी दृष्टि (अंतर से दुनिया को देखने का नजरिया) दोष देखने वाली होगी तो तुम्हें संपूर्ण जगत् दोषों से भरा हुआ ही दिखेगा । **''जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि''** एक अंग्रेजी लेखक ने लिखा है कि :–

"If you are bad, the whole world is bad for you. If you are good, the whole world is good for you."

अगर आप बुरे हों तो पूरा जगत् आप के लिए बुरा है । अगर आप अच्छे हैं तो पूरी दुनिया आपके लिये अच्छी है ।

8. श्री कृष्णमहाराजा की गुणदृष्टि :– उद्यान के मार्ग में एक कुत्ता मरा पड़ा था और सर्वत्र बदबू फैल रही थी । मार्ग पर आने जाने वाले सभी नाक पर कपड़ा रखकर जा रहे थे । इतने में श्रीकृष्ण वहाँ से गुजरे, कुत्ते को देखकर सोचा, **''अहो ! इस कुत्ते की दंतपंक्ति कितनी श्वेत और मुक्तावली के जैसी कितनी सुंदर है ।''** कितनी अद्भुत गुणग्राहकता ।

9. गुणदृष्टि संवर रूप है :– आस्त्रव का संवर करने वाली गुणदृष्टि है । और संवर को भी आस्त्रव के रूप में परिवर्तित करने वाली दोषदृष्टि है ।

उपमाओं में गुणदृष्टि :– जगत् के किसी भी तरह के अच्छे साहित्य में दिये हुए उदाहरणों व उपमाओं में अगर हम झाँकते हैं तो उसके मूल (तह) में बसी उन लेखकों व कवियों की गुणदृष्टि हमें दिखती है । भगवान श्री महावीरदेव के साधना काल का वर्णन करते हुए कल्पसूत्रकार भगवंत कहते हैं कि:–

`संखे इव निरंजणे, गगणमिव निरालंबणे, वायव्व अपडिबद्धे, सारयसलिलं व सुद्धहियए, पुक्खर पत्तं व निरुवलेवे, कुम्मो इव गुतिंदिए, सीहो इव दुद्धरिसे, मंदरो इव अप्पकंपे, सागरो इव गंभीरे, चंदो इव सोमलेसे, सूरो इव दित्ततेए, जच्चकणगं व जायरूवे ।'

उस समय श्रमण भगवान श्री महावीर, `शंख जैसे निरंजन, आकाश की तरह आलंबन रहित, वायु की तरह अप्रतिबद्ध गतिवाले, शरद्ऋतु के जल जैसे शुद्ध हृदय वाले, कमल पत्र की तरह लेप रहित, कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय, सिंह जैसे प्रबल (जिसे वश में करना कठिन हो) मेरुपर्वत की तरह अप्रकंप, सागर जैसे गंभीर, चंद्र जैसे सौम्य, सूर्य जैसे प्रखर तेजवाले, जातिमान सुवर्ण की तरह मलरहित स्वरूप वाले थे । इसमें ग्रंथकार की दृष्टि शंखादि में बसे निरंजनता आदि गुणों को इंगित करती है ।

10. दूसरों के विकास के प्रति प्रमोद रखें :– दूसरों के छोटे से गुण की भी कोई प्रशंसा करता हो तो उसे सुन कर हर्ष होना चाहिए । इस हर्ष की वजह से हमारे अंदर भी ऐसे अच्छे गुण प्रकट होते हैं ।

11. गुण बहुमान सम्यक्त्व का कारण है :– सभी गुणों की प्राप्ति के लिये सभी व्यक्तियों में बसे हर छोटे-बड़े गुणों की तरफ प्रमोद करना अत्यंत आवश्यक है । वैसे गुणों के प्रति प्रमोद देखा जाय तो गुणी व्यक्ति के प्रति बहुमान ही होता है । जहाँ दूसरों के गुणों की अनुमोदना नहीं होती वहाँ निर्मल सम्यक्त्व भी नहीं होता ।

12. गुणप्राप्ति का राजमार्ग :– जो गुण हमारे अंदर नहीं हैं, उन गुणों की प्राप्ति के लिये प्रमोद भावना राजमार्ग है । वे गुण जिन-जिन लोगों में हैं उनकी तरफ (गुणों की तरफ) बहुमान बढ़ाना चाहिए । हमें हमारे में ब्रह्मचर्य गुण को बढ़ाना है तो मोहनीय कर्म जो अब्रह्म का मूल कारण है, समूल उन्मूलन करने वाले श्री वीतराग भगवंतों के प्रति हमारा चित्त अत्यंत आनंद वाला बनाना चाहिये । इस आदर प्रमोदयुक्त चित्त से हमारे पुण्य का बंध होता है और उस पुण्य के प्रभाव से ब्रह्मचर्य की साधना में आते विघ्नों का नाश होता है ।

13. प्रमोदभाव से साधना निर्विघ्न बनती है :– वर्तमान में हमारी साधना में भले अनेक विघ्न दिखते हों परंतु अगर प्रमोद भावना भरपूर होगी तो भविष्य में हमारी साधना अवश्य ही निर्विघ्न बनेगी ।

14. नमस्कार महामंत्र :– प्रमोद भाव जाग्रत रहे और उसके द्वारा हमारा पुण्य बढ़ता ही रहे, उसके लिए शास्त्रकारों ने श्री नमस्कार महामंत्र का बारंबार स्मरण करने के लिए कहा है । इस मंत्र का स्मरण ध्यान, प्रमोद भावना की उपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन है । श्री नमस्कार महामंत्र प्रमोद भावना का अर्क है, निचोड़ है । इसे चौदह पूर्व का सार (समस्त जैन वाङ्मय) कहा जाता है । अर्थात् चौदह पूर्व `श्री नमस्कार महामंत्र' का विवेचन, विस्तार है । इस नमस्कार महामंत्र का सार प्रमोद भावना है । जिससे हम प्रमोद भावना को चौदह पूर्वों का सार भी कह सकते हैं । जिस प्रकार नमस्कार सभी शास्त्रों में स्थित है, व्याप्त है उसी तरह प्रमोद भावना भी सभी शास्त्रों में व्याप्त है । **`नमस्कार महामंत्र'** में बसा **`नमस्'** मोक्ष बीज है और वही प्रमोद भावना का द्योतक है । नमस्कार महामंत्र को सभी मंगलों में प्रथम मंगल और सर्वपाप प्रणाशक बनाने वाला प्रमोदभाव ही है । उसी कारण प्रमोद भाव सभी मंगलों में प्रथम मंगल और सर्व पाप प्रणाशक है ।

15. भाव नमस्कार प्रमोदभावरूप है :– नमस्कार दो तरह के हैं । 1. द्रव्य नमस्कार 2. भावनमस्कार । काया और वाणी द्वारा किया गया नमस्कार द्रव्य नमस्कार हैं । मानसिक विशुद्धि और परम उल्लास के द्वारा किया गया नमस्कार भावनमस्कार है । पापों का नाश करने में भाव नमस्कार मुख्य भूमिका निभाता है । यह भाव नमस्कार प्रमोदभावना का ही एक रूप है ।

सभी शास्त्रकार महर्षि अपने ग्रंथ का प्रारंभ इष्ट देवता के स्मरणरुप भाव मंगल से करते हैं अर्थात् सभी ग्रंथों का प्रारंभ प्रमोद भावना से होता है ।

–अपने सभी अनुष्ठान प्रमोद भावना से ओतप्रोत है । किसी भी अनुष्ठान का प्रारंभ प्रायः **`खमासमणे'** से होता है । **`खमासमणा'** भी प्रमोद भाव को प्रदर्शित करनेवाले अनुष्ठान का ही एक प्रकार है ।

–`कार्योत्सर्ग' में जिनेश्वर अथवा पंच परमेष्ठी का ही ध्यान होता है, जो प्रमोद भाव का ही विषय है ।

प्रत्येक क्रिया जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा को लक्ष्य में रखकर ही करने की है ।

क्रिया के प्रारंभ से लेकर अंत तक अपना चित्त उस क्रिया को बतानेवाले जिनेश्वर भगवंत के ध्यान से अलंकृत हो तो ही वह क्रिया, भाव क्रिया (अमृत अनुष्ठान) बनती है ।

क्रिया को बतानेवाले जिनेश्वर देव का प्रणिधान प्रमोद भावना ही है । क्रिया को अमृतमय बनानेवाले भी वे ही है । क्रिया की पूर्णाहूति के बाद भी होनेवाली सुकृत की अनुमोदना करने से उस क्रिया का फल बढता जाता है ।

16. प्रमोदभावना योगबीज है :– प्रमोद भावना को शास्त्रकारों ने योगबीज की उपमा दी है क्योंकि योग की शुरुआत प्रमोद भावना से ही होती है । चरम पुद्गल परावर्तकाल[1] में जीव को हेय भावों में हेय बुद्धि और उपादेय भावों में उपादेय बुद्धि प्रकट होती है । जीव की योग्यता बढ़ती जाती है और जब उसे श्री सद्गुरु के प्रति पूज्य भाव प्रकट होता है । तब उनके उपदेश से श्री अरिहंत परमात्मा के साथ उसका मानसिक संबंध बनता है । श्री अरिहंत परमात्मा के प्रति का द्वेष टल जाता है । उनके प्रति उसका चित्त प्रीति वाला बन जाता है । उन्हें नमस्कार करने का भाव आत्मा में जागृत होता है, यह मानसिक संबंध ही **'योगबीज'** है । अर्थात् यहीं से **'योगदृष्टि समुच्चय'** में निर्दिष्ट **'मित्रादृष्टि'** की शुरुआत होती है । यह मानसिक संबंध प्रमोदभाव रूपी होने से प्रमोदभाव को ही योगबीज कहना युक्तियुक्त है ।

17. भगवद्भक्ति :– भगवद्भक्ति को मुक्ति की दूती कहा जाता है । भक्ति ही मुक्ति का अवंध्यकारण है ।[2] उस भक्ति का मूल

---

1. चरम पुद्गल परावर्तन : धर्म प्राप्ति का समय ।

2. मोक्षकारण सामग्र्यां, भक्तिरेव गरीयसी ।' विवेकचूडामणि श्लोक 32 । मोक्ष की कारणसामग्री में भक्ति ही बडी चीज है । सर्वसमाधिसिद्धिनां, मूलं तच्चरणार्थनम् । भगवत स्कंध 10 सभी सिद्धियों का भूल भगवान के चरणों की पूजा है ।

आधार प्रमोदभाव की नींव पर ही टिका है । भगवान के स्वरूप के प्रति, गुणों के प्रति हृदय में प्रमोद न हो तो भक्ति किस तरह होगी ? श्री जिनेश्वरों की भक्ति से [1]पूर्व संचित कर्म टूट कर बिखर जाते हैं । भक्ति के साथ भावोल्लास से अपूर्व कर्मनिर्जरा होती है और भावोल्लास प्रमोदरूप होने से प्रमोदभाव ही कर्मनिर्जरा का प्रबल साधन है । ऐसा फलित होता है ।

18. द्रव्य भक्ति और भावभक्ति :– भक्ति दो तरह की होती है । द्रव्य भक्ति और भावभक्ति । ऊँची कीमती वस्तुओं-पुष्प, आंगी आदि से वीतराग प्रभु की पूजा द्रव्यभक्ति कहलाती है । और (जिनेश्वर आदि के प्रति बहुमान, पूज्यभाव, उनका गुणानुराग) भाव सहित जिनाज्ञानुसार संयम पालन वगैरह भाव भक्ति हैं । इसमें समकित दृष्टि को द्रव्य भक्ति होती है और निर्ग्रंथ साधु महात्माओं को भाव भक्ति ही होती है । जो गृहस्थ को भी हो सकती है ।

निर्ग्रंथ महात्माओं की भावभक्ति तीन प्रकार की होती हैं, कायिक, वाचिक और मानसिक । उसमें जिनाज्ञा प्रमाण से आहार लेना, पैदल विहार करना, परिषह सहन करना आदि निर्दोष क्रियाएँ करनी, ये कायिक क्रियाएँ हैं । मधुर कंठ द्वारा भगवत् स्तुति, स्वाध्याय आदि वाचिक और तत्त्वों की अनुप्रेक्षा करना आदि मानसिक भावभक्ति कहलाती है । तात्पर्य यह है कि निर्ग्रंथ महात्माओं का `समग्र जीवन श्री अरिहंत परमात्मा की भावभक्ति (भावपूजा, प्रमोद भावना) रूप ही है । श्री अरिहंत परमात्मा ने अपने साधना काल में जैसी सुंदर आराधना की और आदर्श के साथ जीवन जीया, वैसा ही सुंदर जीवन जीने का प्रयत्न और वैसे ही आदर्शों भरा जीवन महात्मा जीते हैं । इसलिये इस भावभक्ति को अभेदोपासना भी कहते हैं । भक्ति का यह रूप आत्मा को परमात्मा स्वरूप बना देता है । ऊपर जो द्रव्य भक्ति बताई गई है ऐसी

1. भत्तीई जिणवराणं, खिज्जंति पुव्वसंचिआ कम्मा ।'

आवश्यक निर्युक्ति गा०-1079 ।

भेदोपासना द्रव्यपूजोचिता भेदोपासना[1] भी प्रमोदभावना कहलाती है । इसके बिना दोनों ही निष्प्राण हैं । भक्ति के अन्य प्रकार जाप, ध्यान आदि भी हैं । इन सभी प्रकारों में मुख्यता प्रमोद की ही है । जाप, ध्यान आदि से प्रमोद भावना परम विकास की तरफ बढती है ।

19. गुरुकुलवास :– चारित्र पालन में गुरुकुलवास सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । गुरुकुलवास का मूल भी कृतज्ञभाव है । शिष्य और गुरु आदि अपने उपकारियों के प्रति कृतज्ञ न हों तो गुरुशिष्यभाव टिकता ही नहीं है । कृतज्ञता, विनय, वैयावृत्य आदि गुणों के मूल में प्रकट अथवा अप्रत्यक्ष रुप से प्रमोदभावना ही कार्य करती है । गुरु को शिष्य के गुणों के प्रति और शिष्य को गुरु के गुणों के प्रति प्रमोद न हो तो वह सच्चा गुरुकुलवास नहीं है ।

20. सत्कार्यों का मूल :– जगत् में जो भी अच्छे कार्य होते हैं उनमें प्रेरणा का बल प्रमोदभाव ही है । जिनमंदिर आदि धर्मस्थान प्रमोद भाव की नींव पर खड़े हैं । जिनमंदिर बनवाने वालों का यह विचार होता है कि जगत् पर सर्वगुणसंपन्न ऐसे अरिहंत परमात्मा का महान् उपकार है । उनकी भक्ति इस मंदिर में होगी, उससे भव्य आत्माएँ धर्माभिमुख होंगी । धर्म में जुड़ने से उनमें भी अनेक गुण प्रकट होंगे । यहाँ भविष्य में गुण प्रकट होंगे, उसका हर्ष यह प्रमोद भाव का सूचक है ।

21. धर्म के आलंबन :– जिनालय आदि धर्म के आलंबन संसार-सागर से तिरने में नौका समान हैं । धर्म के आलंबन के प्रति

---

1. द्रव्यपूजोचिता भेदोपासना गृहमेधिनां ।
भावपूजा तु साधूनामभेदोपासनात्मिका ।। ज्ञानसार पूजाष्टक ।
गृहस्थों के लिये भेदपूर्वक उपासना सेवा करने के लिए द्रव्यपूजा उचित है और अभेद उपासनारुप भावपूजा साधु के योग्य है । जैसे कि गृहस्थ के लिए भावनोपवीत मनसा नामक भावपूजा होती है । परकायिकी भावपूजा तो चारित्रवंत को ही होती है । यही विशेषता है ।

प्रमोद जीव को अशुभ आलंबनों से बचाता है और जहाँ अच्छे आलंबन मिलते हैं, वहीं पर जन्म दिलाता है । उन जन्मों में जाकर जीव को उन शुभ आलंबनों को देखकर प्रमोद जागृत होता है और उससे उपार्जित पुण्य के योग से उत्तरोत्तर पुण्यानुबंधी पुण्य के हेतु शुभ आलंबन मिलते जाते हैं । श्री तीर्थंकरों के समागम आदि शुभ आलंबन प्रमोद के प्रति किया गया फल है ।

कलिकाल सर्वज्ञ, आचार्य शिरोमणि **श्री हेमचन्द्राचार्यजी** योगशास्त्र ग्रंथ में लिखते है–

'अपास्ताशेष-दोषाणां, वस्तु तत्त्वावलोकिनाम् ।
गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्तितः ।। (योगशास्त्र-4)'

अर्थात् जिन्होंने अपनी आत्मा में से सभी दोषों को दूर कर दिया हैं और जो सभी वस्तुओं के स्वरुप को यथार्थ रुप में जानते है, उनके गुणों के प्रति आदर भाव **'प्रमोद'** कहलाता है ।

ऊपर के श्लोक में प्रमोद भावना के परमोत्कृष्ट विषय को बताया गया है ।

प्रमोद भावना एक प्रकार की उपासना है । उपासना में उपास्य का विवेक खूब जरुरी है ।

उपास्य की योग्यता के ऊपर समग्र उपासना का आधार है ।

उपासना के प्रभाव से उपासक उपास्य जैसा बनता है ।

उपास्य सर्वगुण संपन्न और सर्व दोष रहित हो तो उपासक भी वैसा ही बनता है ।

अतः हमें अपनी प्रमोद भावना का विषय सर्वगुण संपन्न और सर्व दोष रहित अरिहंत परमात्मा को बनाना चाहिए । वीतराग और सर्वज्ञ ऐसे अरिहंत ही उपास्यतम है, उनका मानसिक स्मरण यह प्रमोद का प्रतीक है ।

22. आत्मस्थिति विषयक प्रमोद :– मुझे मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र, उत्तमजाति, उत्तमकुल, पंचेन्द्रिय परिपूर्ण शरीर, आरोग्य, दीर्घ आयुष्य, सद्गुरु का योग, धर्मश्रवण, श्रद्धा आदि कितने सारे मोक्ष के साधन मिले हैं । इन साधनों से रहित ऐसे अनंतानंत जीव इस भवचक्र में अनेक दुःखों से पीड़ित हैं । सम्यग्दृष्टि देवता भी इन साधनों के लिए तरसते हैं । पुण्य के योग से मैं कितना ऊपर आ गया हूँ । मेरी वर्तमान स्थिति कितनी दुर्लभ है । ऐसे विचार **आत्मा स्थिति विषयक** प्रमोद हैं । ये प्रमोदभाव जीव को साधना में आगे बढ़ाते हैं । सामान्य जीवों के लिये अत्यंत दुष्कर ऐसे अनेक विशिष्ट अनुष्ठानों को अपनाने, करने के लिये अपूर्व बल देते हैं ।

23. भगवान के शासन के लिये आत्मीयभाव :– `श्री अरिहंत भगवंतों का यह शासन बहुत ही उत्तम है । निश्चय से मेरी आत्मा भी अरिहंत जैसी है । उससे उनका शासन अपेक्षा से मेरा भी शासन है । उनके साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका[1] मेरे ही हैं । चतुर्विध[2] संघ मेरा है ।' ऐसी विचारधारा भी एक जाति का प्रमोद हैं । ऐसे प्रमोद से शासन के प्रत्येक अंग की तरफ अद्भुत आदर और वात्सल्य भाव जागृत होता है । जिस तरह माता अपने पुत्रों के दोषों को गौण बनाती है, वैसे ही गुणों को देख-देखकर खुश होती है । हमें भी साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका वगैरह सब के गुणों को देख-देखकर आनंद होना चाहिए । ऐसा प्रमोद पराकाष्ठा को प्राप्त करे तो उससे श्री तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन होता है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

---

1. साधु=संन्यस्त संयमी पुरुष । साध्वी=संन्यस्त संयमी स्त्री । श्रावक=धर्मश्रद्धा पूर्वक आंशिक संयम को स्वीकार करने वाले गृहस्थ । श्राविका=धर्मश्रद्धा पूर्वक आंशिक संयम को धारण करनेवाली गृहिणी ।
2. साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका यह चतुर्विध संघ ।

श्री अरिहंत की आज्ञा का यथार्थपालन यह श्रेष्ठ प्रकार का प्रमोद है, क्योंकि आज्ञा पालन ही उत्कृष्ट भक्ति है । प्रमोद अर्थात् बहुमान । आज्ञा पालन ही अरिहंतों का श्रेष्ठ बहुमान है ।

24. दूसरों के सुख को देखकर संतुष्ट बनो :– दूसरों के सुख को देखकर संतुष्ट होना[1] यह भी एक प्रकार का प्रमोद है । सामान्यतः सुख चार प्रकार के हैं ।

1) आपातरम्य सुख :– जो सुख तत्काल रमणीय लगता है । परंतु परिणाम असुंदर हो उसे आपातरम्य सुख कहते हैं । जैसे कि अपथ्य आहार से मिलने वाला सुख ।

2) सद्धेतु सुख :– जो सुख अभी यहाँ पर तत्काल रमणीय और परिणाम (इसलोक तक) सुंदर हो तो सद्धेतु सुख । जैसे कि स्वादिष्ट और पध्य आहार ।

3) अनुबंध युक्त सुख:– धर्म के पालन से इहलोक-परलोक में मिलने वाला अविच्छिन्न सुख । जैसे कि पुण्यानुबंधी पुण्य से मिलने वाला बाह्य सुख ।

4) परम सुख :– मोहनीय आदि कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला आत्मस्वभावजन्य अव्याबाध अनंत सुख ।

इसमें प्रथम दो सुख मैत्री भावना और अंतिम के दो सुख प्रमोद भावना के विषय हैं । दूसरों के सुख से संतुष्ट होने से मन प्रसन्न बनता है और इससे स्वयं के ही सुख की चिंता से जो आर्तध्यान होता है वह भी क्षय होता है ।

25. प्रमोद भावना के फल :– प्रमोदभावना के सतत अभ्यास से पुण्य का आकर्षण बढता जाता है । ईर्ष्या, असूया वगैरह अशुभ मानसवृत्तियों का नाश होता है । शुभवृत्तियों का उद्‌भव होता है । सत्कार्य करने का उत्साह प्रवर्धमान होता है । मन में से ईर्ष्या, असूया

1. `परसुखतुष्टिर्मुदिता' । षोडशक प्रकरण ।

वगैरह मैल धुल जाते हैं । उससे वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है । आत्मा में शुद्ध आत्मस्वरुप का यथार्थ ज्ञान होता है और आत्मा में शुद्ध आत्मस्वरूप का स्थान (शुक्लध्यान) धरने की योग्यता प्रकट होती है । प्रमोदभावना का अभ्यास बढता जाता है । वैसे मन अधिक-अधिक प्रसन्न होता है, एकाग्र बनता है । उससे आत्मिक आनंद में अपूर्व वृद्धि होती है । जो गुणियों के गुणों के प्रति प्रमोद धारण करता है, उन पर उन गुणी महात्माओं की अपूर्व करुणा फैलती है । उससे अन्य आत्माएँ भी प्रमोद का पात्र बनती हैं । प्रमोद को वाणी द्वारा उचित स्थान पर व्यक्त करने से वाणी पवित्र बनती है । प्रमोदभावना के गुणों को ढूँढने की वृत्ति जागती है ।

जिस तरह अलग-अलग तरीकों से हमारा प्रमोदभाव बढ़ता है । वैसे-वैसे उन तरीकों से उनका उपयोग किया जा सकता है । इस प्रमोदभावना की साधना का परम उत्कृष्ट रूप साधनभूत श्री नमस्कार महामंत्र को सदैव हृदय में धारण करना चाहिये । प्रमोदभावना स्वरुप श्री नमस्कार महामंत्र अपने को शास्त्रों के अतिगूढ़ रहस्यों को समझाता है, जिससे हमारी आत्मा शीघ्रतः परमकल्याण की अधिकारी बने ।

सर्व जीव प्रमोदभावना की पराकाष्ठा को प्राप्त करके परम प्रमोदमय मुक्ति पद को वरण करें, यही शुभेच्छा !

प्रमोद भावना

(संक्षिप्त)

1) निमित्त कारण :– सुखी, पुण्यवान या गुणी जीव, दूसरों का सुख, दूसरों के सुख के साधन, धर्म के आलंबन आदि ।

2) संघर्ष में आने वाले उपादान कारण :– अप्रशस्त राग, मान, अहंकार, अपने गुणों का पक्षपात, धर्म की तरफ अरुचि, पाप के प्रति रुचि, दूसरों के अच्छे कार्यों की तरफ द्वेष, गुणियों को मिलने वाला सम्मान, आदर, प्रशंसा, स्तुति, बहुमान, सत्कार आदि के प्रति नाखुशी, अपनी तारीफ, स्तुति करवाने के प्रति आकर्षण, खुद की अपनी तारीफ करवाने की आदत, गुणदृष्टि का अभाव, दोषदृष्टि, अपनी छोटी बात को भी महत्त्व का बताना, दूसरों की महत्वपूर्ण बात भी तुच्छ लगती हो ऐसी अशुभ वृत्तियाँ ।

3) उपादान और निमित्त कारणों के संघर्ष से उत्पन्न होने वाले नये चित्तमल :– गुणवानों को देखकर और उनके गुणों की प्रशंसा सुन कर ईर्ष्या, असूया, द्वेष, निंदा करने की आदत, गुणी का अपमान देखकर उसके प्रति खुश होना ।

4) उन चित्तमलों से उत्पन्न होनेवाले अनर्थ :– गुणी पुरुषों के सामने उनका अपमान करना, उनकी मजाक उड़ाना, उनके हृदय में अपने प्रति रहे हुए विश्वास को खत्म करना । लोगों में निंदा, लोगों में अप्रीति, योगबीज का नाश, दुर्लभबोधिता, गुणहानि आदि ।

5) चित्तमल के नाश के उपाय :– सुखी और पुण्यवानों को देखकर आनंद होना, गुणों का पक्षपात, गुणी पुरुषों का बहुमान उनकी स्तुति, प्रशंसा, वंदन, नमन, सेवा, विनय आदि करना । तीर्थ (संघ), तीर्थंकरों और धर्म के आलंबनों के प्रति आदर, गुणदृष्टि, दोषदृष्टि का त्याग, नमस्कार महामंत्र का स्मरण, ध्यान आदि ।

6) उन उपायों का संग्रह करने वाले शब्द :– प्रमोद भावना ।

7) छोटी व्याख्या :– परसुखतुष्टि, गुणपक्षपात ।

8) उसके प्रकार :–

1) नैश्चयिक प्रमोद :– गुण अथवा गुणों को देखकर मानसिक प्रहर्ष, अनुराग, अन्तर्बहुमान, अनुमोदना आदि ।

2) व्यावहारिक प्रमोद :– ऊपर बताए हुए आंतरिक अनुरागादि की सभी इन्द्रियों द्वारा अभिव्यक्ति, जैसे कि आँखों में हर्ष के आँसू, रोमांच, जीभ आदि द्वारा स्तुति और विनय, सेवा, वंदन आदि ।

3) आपातरम्य सुख विषयक प्रमोद :– (हेय)

4) सद्धेतुसुख विषयक प्रमोद :– (हेय)

5) अनुबंधयुक्त सुख विषयक प्रमोद :– (उपादेय)

6) आत्मस्थितिविषयक प्रमोद :– (उपादेय)

7) धर्म के आलंबनों के प्रति प्रमोद :– (उपादेय)

9) प्रमोद भावना के फल :– योगबीज की प्राप्ति, सत्कार्य करने में उत्साह, गुणों की वृद्धि, गुणी पुरुषों के हृदय में हमारे प्रति मान, तीर्थंकरपना, लोक में प्रशंसा, आदर, सर्वगुण-संपन्नता, सर्व-दोष रहितता, सम्यक्त्व की निर्मलता, पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन, सत्त्व, शील, प्रज्ञा में वृद्धि आदि ।

10) विशेष मुद्दे :– 1) तीर्थंकरों को जो तीर्थंकरत्व मिला उसका कारण उनके पूर्व में तीर्थ और तीर्थंकरों के प्रति सेवित प्रमोद भावना है ।

2) प्रमोदभावना की प्राप्ति यह योगबीज की प्राप्ति है । अरिहंतों को नमस्कार करने का भाव यही योगबीज है ।

3) प्रमोद का परमोत्कृष्ट विषय श्री अरिहंत परमात्मा है ।

4) प्रमोद भावना यह गुणप्राप्ति का राजमार्ग है ।

5) जीव के सभी अनुष्ठान प्रमोदभावना से ओतप्रोत होने के लिए घटते हैं ।

6) प्रमोद के बिना (श्री तीर्थंकरों के प्रति बहुमान बिना) सारे अनुष्ठान निष्फल हैं ।

7) गुरु शिष्य भाव प्रमोदभाव पर टिकता है ।

8) सभी सत्कार्यों के मूल में प्रायः प्रमोद भाव होता है । प्रमोद भाव भी चौदह पूर्वों का सार है ।

9) गुणदृष्टि को लेना, दोषदृष्टि को छोड़ना । गुणदृष्टि संवर है दोषदृष्टि आस्रव है ।

10) दूसरों के विकास, उन्नति में प्रमोद रखना ।

11) गुण और गुणी का बहुमान सम्यक्त्व का कारण है ।

12) प्रमोद भाव से साधना निर्विघ्न बनती है ।

13) भगवद्भक्ति प्रमोद भावरूप है, प्रमोदभाव बिना की क्रियाएँ फलित नहीं होतीं । **'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।'** सभी सुखों का मूल भगवद्भक्ति है ।

14) निर्ग्रंथ साधु महात्माओं का समग्र जीवन श्री अरिहंत भगवंतों की महा भाव पूजारूप है ।

15) धर्मस्थानों में मूर्तिमान प्रमोदभावना को देखना सीखें ।

16) दूसरों द्वारा व्यक्त होती प्रमोद भावना के प्रति प्रमोदभाव रखना ।

17) धर्म के प्रत्येक आलंबन को देखकर हृदय में हर्ष होना ।

18) प्रमोद भावना के बिना स्वरूपरमणता की प्राप्ति संभव नही है ।

19) प्रमोदभावना धर्म से होने वाले विनिपात से बचाती है ।

20) वर्तमान में जो देवदुर्लभ धर्मसामग्री मिली है, उसके महत्त्व को सोच कर आनंदित होना चाहिए ।

21) सभी जगह (विशेष रूप से चतुर्विध संघ के प्रत्येक व्यक्ति में) गुणों को देखना सीखो ।

22) 'श्री अरिहंत भगवंतों का यह शासन अत्यंत उत्तम है । ऐसी भावना पुनः पुनः करनी चाहिए । शासन के प्रति की आत्मीयता का विकास करो ।'

23) इस शासन में जैसी सुंदर प्रमोद भावना है, वैसी कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलेगी ।

24) श्री अरिहंत परमात्मा से लगाकर छोटे से छोटे गुणवान को भी देखकर आनंदित बनो ।

25) देव और गुरु की भक्ति के बिना आत्मा में तत्त्वप्रकाश नहीं होता ।

26) दूसरों के सुख को देखकर संतुष्ट होना चाहिए । उनके प्रति की ईर्ष्या को छोड़ देना चाहिए ।

॥ प्रमोदभावना को नमस्कार ॥

प्रातःकाल की प्रमोद भावना

प्रातःकाल उठते सर्वप्रथम नीचे के विशेषणों से अलंकृत ऐसे सभी काल और सभी क्षेत्रों के अरिहंतों को नमस्कार करना चाहिए। उस नमस्कार के वक्त मन से प्रफुल्लित और अपार आनंद का अनुभव होना चाहिए। शरीर का रोम-रोम खिलना चाहिए। उस समय उन विशेषणों के अनुरूप चित्र हमारे मनरूपी पर्दे पर अंकित करना चाहिए।

विशेषण :– 1. तीसरे भव में वीशस्थानक तप की आराधना करके जिन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया है।

2. गर्भ में भी वे महान् योगी जैसे थे।

3. जिनका अवतरण चौदह महास्वप्नों से सूचित होता है।

4. गर्भ में आते ही इन्द्र भी जिनकी स्तुति करते हैं।

5. गर्भावस्था से ही जो तीनों ज्ञान से सहित हैं।

इस प्रकार अनेक बार भगवान को नमस्कार करना चाहिए। कम से कम 12 नमस्कार, मध्यम से 108 नमस्कार अथवा उत्कृष्ट से 1008 नमस्कार करना चाहिए।

प्रमोदभावना के अभ्यास के लिए `श्री नमस्कार महामंत्र' का त्रिसंध्य 108 जाप किया जा सकता है। अथवा `अरिहंत' इस `चतुरक्षरी मंत्राधिराज' का कम-से-कम 2000 जाप करना चाहिए। ऐसे जाप का लाभ अनिर्वचनीय है। जाप करने वाला स्वयं इन लाभों का अनुभव कर सकता है। जिसकी मनोभूमि में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इस तरह चारों प्रकार के अरिहंतों को स्थान मिला है, वह आत्मा स्वयं अरिहंत पदवी का वरण करती है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं !

प्रमोद भावना प्रकरण पूर्ण हुआ।

3

करुणा भावना

1) व्याख्या :– परदु:खविनाशिनी करुणा ।[1]

करुणा भावना दूसरों के दु:ख की विनाशक है । `दु:खी प्राणियों के दु:ख दूर हों' इत्यादि भावना यह करुणा भावना है ।

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य महाराजा ने दीन, आर्त्त, भयभीत, जीने की इच्छा रखने वाले (मरण नहीं चाहने वाले) जीवों को दैन्यादि का प्रतिकार[2] करने में परायण ऐसी बुद्धि को करुणा कहा है ।

2) समानार्थक शब्द :– करूणा, दया, अनुकंपा, दीनानुग्रह आदि शब्द समान अर्थ वाले हैं । ऐसे श्री **'तत्वार्थाधिगमसूत्र'** के भाष्य में कहा है कि दूसरों को दु:ख न हो ऐसा व्यवहार करना दया है । दूसरों के दु:ख को देखकर उनको दु:ख नहीं हो ऐसा व्यवहार, आचरण दया है । दूसरों के दु:ख को देखकर हृदय में कंपन होना और उस दु:ख को दूर करने की तीव्र इच्छा होना, यह अनुकंपा है । सत्पुरुषों की, दीन जीवों की सहायता करने की सदा तत्परता यह दीनानुग्रह है ।

3) करुणा और उसके पात्र :– दीन अर्थात् अपने स्वयं के पापों का प्रतिकार करने में असमर्थ । **'जगत् में सबसे पडा पाप'** कुशास्त्र-प्रणयन[3] है । ऐसे पाप का प्रतिकार करने में असमर्थ कुशास्त्रप्रणेता वास्तव में दीन है । **``कुशास्त्रप्रणेता कुमार्गप्रणयनरूप[4] पाप से कब**

---

1. यह लक्षण षोडशक में करने में आया है ।

2. दीनेष्वार्तेषु भीतेषु, याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतिकारपरा बुद्धि, कारुण्यमभिधीयते ।। (योगशास्त्र प्र.4-120)

3. गलत शास्त्रों की रचना । 4. गलत मार्ग बताना ।

मुक्त होंगे ? मरीचि के भव में उन्मार्ग देशनारूप पाप के कारण तीन भुवन के अधिपति श्री वीरभगवान का जीव जो दीर्घ काल तक संसारचक्र में भ्रमण करता रहा तो दूसरों की क्या मजाल ?'' वगैरह करुणाभावना भाव दैन्य से युक्त ऐसे कुशास्त्र प्रणेता को लक्ष्य में रखकर कर सकते है ।

विषयों के संग से उत्पन्न दुःख दुःखों को भोग रहे हैं, वे पीड़ित हैं । संसारी जीव इन विषयों को पाने और भोगने में ही रचे-पचे हैं । इन विषयों का भोग पूर्व के अनंत भवों में बार-बार किया और उसके विविध कड़वे फलों को भोगा है । फिर भी आज तक भी इन भोगों से निवृत्त नहीं हो पाते । **''पहले ये विषय मुझे कभी नहीं मिले । ये सभी विषय बिल्कुल नये हैं ।''** ऐसी सतत भ्रमणा में ही जीव रमण करता है । ऐसे जीव विषयविरक्ति से होने वाले प्रशम रूप अमृत का आकंठ पान करके कब तृप्त होंगे ? **''वे जीव परमसुखमयी ऐसी वीतराग दशा को कब पाएंगे ?''** इस जाति की करुणा विषयों के अधीन बने जीवों के प्रति रखनी चाहिये ।

इस भवचक्र में बाल, वृद्ध आदि सभी जीवों के सामने भय के अनेक कारण समुपस्थित होते हैं । ऐसे संयोगों में उनका मानस सदैव भयग्रस्त रहता है । **'भयभीत जीव सभी प्रकार भयों से कब सर्वथा मुक्त होंगे ?'** सभी भयों से रहित ऐसी **'जितभय'** (मोक्ष) अवस्था उन्हें कब मिलेगी ?'' ऐसी करुणा, भयभीत आत्माओं को उद्देशित करके की जा सकती है ।

मरण का दुःख सभी जीवों को–कैसा है ? सभी जीव जीवन जीने की इच्छा रखते हैं । मरण की इच्छा कोई नहीं रखता । फिर भी जीवन आयुष्य कर्म से अधिक किया नहीं जा सकता और मरण आए बिना नहीं रहता । जैसे मृत्यु सामने आती है उस समय जिन संयोगों में, जिन साधनों में बहुत राग किया है ऐसे धन, पुत्र, स्त्री वगैरह के वियोग

भी सामने आ कर खड़े रहते हैं । उस समय मरण और धनादि पदार्थों के वियोग का विचार जीव को बहुत पीड़ा देते हैं । `ऐसी पीड़ा को अनुभव करने वाले प्राणियों को जिनवचनामृत की प्राप्ति हो । उस अमृत द्वारा वे भी अजर अमर बनें । ऐसी करुणा मरणान्तिक पीड़ा का अनुभव कर रहे लोगों के साथ रखी जा सकती है ।

4) करुणा के प्रकार :– करुणा को लौकिक और लोकोत्तर, स्वात्मविषयक और परात्मविषयक, व्यावहारिक और नैश्चयिक इस तरह दो-दो भागों में बाँटा जा सकता है ।

5) लौकिक करुणा :– लौकिक करुणा को भी मोहजन्य और दुःखित दर्शनजन्य[1] दो विभाग किये जा सकते हैं और लोकोत्तर करुणा को भी संवेगजन्य और स्वाभाविक दो भागों में देखा जा सकता है । इसमें भूखे को खाना, प्यासे को पानी, वस्त्रहीन को वस्त्र, निराश्रित को आश्रय, बीमार को औषधि देना आदि लौकिक करुणा हैं । अनाथाश्रम, गौशाला (पिंजरापोल) आदि के संचालन के पीछे प्रायः लौकिक करुणा काम करती है । अज्ञान अनेक दुःखों का[2] कारण है । इस अज्ञान को दूर करने के लिए दिया गया लौकिक सम्यग् नीति का शिक्षण अपेक्षा से करुणा का ही कार्य है ।

लौकिक करुणा उत्पन्न होने के दो हेतु हैं । **मोह** और **दुःखित दर्शन ।** बीमार ग्लान व्यक्ति कोई अपथ्य (स्वास्थ्य के विपरीत) वस्तु माँगता है और उसे देना और उसकी इच्छापूर्ति की अभिलाषा मोह है ।

---

1. दुःखी को देखने के बाद उत्पन्न होती ही वह ।

2. अज्ञानी हित और अहित को नहीं जान सकता । इस कारण वह अनेक दुःखों को भोगता है । कहा गया है कि–

अज्ञानं खलु कष्टं, द्वेषादिभ्यो सर्वदोषेभ्य ।
अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनावृतो जीवः ।

द्वेष आदि सभी दोषों से भी अज्ञान यह बडा कष्ट है । क्योंकि उससे घिरा हुआ जीव हितकर व अहितकर में फर्क नही जानता ।

और उसमें से जन्मी करुणा वह **मोहजनित लौकिक करुणा** है । यह दूसरे प्रकार की करुणा मार्गानुसारी आदि जीवों में होती है ।[1]

6. लोकोत्तर करुणा :– सभी दुःखों का मूल कारण कर्म है । उस कर्म को नाश करने के साधनों को बताना और सिखाना, देना यह लोकोत्तर करुणा है । यह करुणा सम्यग्दृष्टि जीवों आदि को होती है । धर्मदेशना[2], तीर्थ प्रवर्तन[3] वगैरह लोकोत्तर करुणा के कार्य के उदाहरण हैं ।

संवेग अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा । उस में से उत्पन्न होने वाली संवेगजनित लोकोत्तर करुणा है । यह संवेगजनित लोकोत्तर करुणा अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तयति को होती है ।[4]

स्वाभाविक करुणा अर्थात् सहज करुणा । यह करुणा सभी जीवों पर अनुग्रह करने में परायण ऐसे अप्रमत्तादि [5]महामुनियों को होती है । जिस तरह कुम्हार का चाक शुरुआत में दंड के योग से और बाद में बिना दंड के अपनी रफ्तार से स्वतः चलता है । उसी तरह संवेग जनित करुणा के पुनः पुनः अभ्यास से स्वाभाविक सहज रुप से करुणा की प्राप्ति होती है । तात्पर्य यह है कि महामुनियों का स्वभाव ही करुणामय बन जाता है ।

7. स्वात्म और परात्मविषयक करुणा :– भविष्य में अपनी

---

1. सत्पुरुषों के द्वारा बताये गये जीवन मार्ग का अनुसरण कर रहे जीव **'मार्गानुसारी'** कहलाते हैं । उनके शास्त्रप्रसिद्ध 35 गुणों में 'दयालु बनना' भी एक गुण है ।
2. श्री तीर्थंकर प्रभु द्वारा दिया जाने वाला धर्म उपदेश ।
3. श्री तीर्थंकरों द्वारा की गई गणधर, द्वादशांगी और साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूपी चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना ।
4. अविरतसम्यग्दृष्टि को धर्मश्रद्धा होते हुए भी विरति (संयम) नहीं होती । देशविरत को आंशिक संयम होता है । प्रमत्तयति को पूर्ण संयम होता है परंतु वह बीच में प्रमाद से दूषित होता है । जैन शास्त्रों की दृष्टि में क्रमशः यह चौथा, पाँचवाँ और छठा गुणस्थानक कहलाता है ।
5. **अप्रमत्त महामुनि :** प्रमादरहित शुद्धसंयमी ।

आत्मा पर दुःख नहीं आवे ऐसे धार्मिक उपायों का विचार और उन उपायों में रमण करना, कार्यरत रहना यह **स्वात्म विषयक करुणा** है । **'दूसरों के दुःख दूर हों'** यह भावना **'परात्म विषयक'** करुणा है । इस विचार के साथ हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि हमें हमारे वर्तमान दुःख में से भागकर पीछा छुड़ाना यह चिंता करना यह करुणा नहीं है । परंतु मोह है । आर्त्तध्यान रूप है । आगामी दुःखों में से बचने का विचार यही सच्चा विवेक है । और वही धर्मध्यान रूप है ।

8. नैश्चयिक और व्यावहारिक करुणा :– आत्मा का करुणारुप जो कि शुद्ध अध्यवसाय है वह नैश्चयिक करुणा है । अन्नदान वगैरह की करुणा व्यावहारिक करुणा है ।

9. चार प्रकार के दान :– श्री जिनप्रवचन में चार प्रकार के दान बताये गए हैं । अभयदान, ज्ञानदान, धर्मोपष्टंभदान और अनुकंपादान । इसमें जीवों के प्रति दयाभाव रखना यह अभयदान है । इस अभयदान का मुख्य अंग अहिंसा है । पारमार्थिक (दूसरों की भलाई के लिये) ज्ञान देना वह ज्ञानदान है । मुमुक्षु आत्माओं के लिये उपकारी बने ऐसे आहारादि का दान करना वह धर्मोपष्टंभ दान है । उपष्टंभ अर्थात् आधार, मदद, सहायता आदि साधु महात्माओं को आहारादि का दान देने से उन्हें संयम में सहारा मिलता है । और हम उपष्टंभदान रूप धर्म को साधते हैं । मुनियों के लिये शरीर संयम का साधन है । और शरीर है वहाँ तक आहारादि की आवश्यकता होती ही है । कहने का अर्थ यह है कि निर्दोष आहारादि संयम साधना में उपष्टंभ हैं । संयम की अनुमोदना से उपष्टंभ दान का भाव जन्म लेता है । और वह दान महान् लाभ का कारण बनता है । दीन दुःखी की सहायता करने के निमित्त से जो भी दान दिया जाता है वह अनुकंपा दान है । यह दान अनुकंपा बुद्धि से दीन आदि को दिया जाता है । इसमें पात्र की पात्रता की सोच को स्थान नहीं दिया जाता है । दीक्षा लेने का प्रसंग प्राप्त होते ही श्री तीर्थंकर परमात्मा भी एक वर्ष तक लगातार सतत दान देते हैं । उसमें पात्र अपात्र का विचार नहीं करते हैं । जो माँगते हैं (याचक) उनको सभी को

दिया जाता है । इन चार प्रकार के दान से परंपर क्रमशः क्षायिक दर्शन[1], अनंतज्ञान, अनंतचारित्र और अनंतवीर्य का प्रादुभवि होता है । अभय दान से आत्मा को सार्वभौम निर्भयता मिलती है । ऐसी निर्भयता क्षायिक दर्शन के बिना संभव ही नहीं है । पूर्व में अभयदान का फल क्षायिक दर्शन इसीलिये कहा गया है । दीन दुःखी को सहाय करने में अपनी शक्ति, सामर्थ्य लगाने वाली आत्मा को अगले भवों में परंपरा से अनंतवीर्य मिलता ही रहेगा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं !

10) स्वदुःख को दूर करने के उपाय :– मुझे कभी कोई दुःख ना मिले' इस प्रकार की इच्छा जीव में अनादि काल से होती है । यह इच्छा द्वेषरूप है और उसका कारण स्वयं का दुःख है । जीव कर्म के पराधीन है । इस वजह से जीव को प्रतिकूल संयोगों में जाना पड़ता है । प्रतिकूल संयोग दुःख के निमित्त हैं । जीव को अपने दुःख पर द्वेष होने से उसके संयोगों पर भी उसे द्वेष होता है । स्वदुःख विषयक द्वेष को शास्त्रकारों ने दाह (जलानेवाली) की उपमा दी है । यह दाह जीव को सतत जलाया करता है ।

लगभग सभी जीव दुःखों को दूर करने का दिन-रात प्रयास करते हैं । परंतु दुःख पर रहे हुए द्वेष को मिटाने का प्रयत्न कोई नहीं करता है । कोई विरली महान् आत्माएँ ही इस द्वेष को मिटाने का प्रयत्न करती हैं । वर्तमान दुःख (उदय में आए हुए पापकर्म) को दूर करना जीव के हाथ में नहीं होता । परंतु दुःख पर आने वाले द्वेष को दूर करने में वह स्वतंत्र है । दुःख बने द्वेष को दूर करते ही वह दुःख तत्त्वतः अर्थात् पीडा नहीं देता । दुःख के जैसा नहीं रहता ।

अपने दुःख पर रहे हुए द्वेष को दूर करने का सरल उपाय करुणा भावना है । करुणाभावना अर्थात् दूसरों का दुःख दूर करने की प्रवृत्ति । अगर हमें अपने दुःख पर द्वेष होता है । उसके बदले दूसरों के दुःखों पर द्वेष होना चाहिए और उन्हें दूर करने का उपाय करना

1. दर्शन अर्थात् सम्यक् श्रद्धा । उसके अवारक निमित्तों के सर्वथा समूल नाश होने से प्रगट होती है यह सम्यग् श्रद्धा ही क्षायिक दर्शन है ।

चाहिए । दूसरों के दुःख दूर करने की चिंता करने से अपना दुःख भूल जाते हैं । अपने वर्तमान दुःख को भूलने में ही सुख प्राप्ति का मूल रहस्य छुपा हुआ है । व्यक्तिगत रूप से सिर्फ अपने दुःख के प्रति के द्वेष को सभी दुःखी जीवों के दुःखविषयक बनाना । **'मेरा दुःख दूर हो'** यह वृत्ति सभी को होती है । उसके स्थान पर **'सभी के दुःख नष्ट हो'** यह इच्छा प्रबल बननी चाहिए । इस इच्छा के बल से दूसरे पर अपकार करने की मलिनवृत्ति नष्ट होती है और क्रोध शांत हो जाता है । यह करुणा भावना का गूढ़ रहस्य है ।

किसी दुःखी की अपेक्षा मैं सुखी हूँ, यह जानने से **'मैं उच्च, मैं श्रीमंत, मैं सुखी, मैं रुपवान, मैं बलवान्'** इस प्रकार का अभिमान पैदा होता है । यह अभिमान दुःखी के प्रति तिरस्कार भाव पैदा करता है ।

सभी प्राणियों को आत्म तुल्य मानने से करुणा भावना को चित्त में स्थिर करनेवाली आत्मा का अहंकार विलीन हो जाता है ।

प्रत्येक वस्तु का बल, स्थान-विशेष को प्राप्तकर हानिकर या हितकर बनता है !

स्थान बदलने पर वही वस्तु, हानिकारक बल भी हितकारक बन जाता हैं ।

विषयों का प्रेम हानिकारक हैं, परंतु उसी प्रेम का विषय परमात्मा को बना दे तो लाभ का पार नहीं रहता ।

विषयों में विरक्ति (उपेक्षा) परम सुख का साधन हैं परंतु यही उपेक्षा धर्म की ओर हो जाय तो भयंकर दुःखों का मूल बन जाता है ।

इसी प्रकार अपने वर्तमान दुःखों का द्वेष एक ऐसी आग है, जो आत्मा को निरंतर जलाती है, परंतु उसी द्वेष का विषय दूसरों का दुःख बनता है, तब वही द्वेष, आग के बदले शेक Fomentation का काम करता है । जिस प्रकार शेक करने से सूजन का दुःख कम होता हैं, उसी प्रकार पर दुःख द्वेष विषयक रुप करुणा भावना आर्तध्यान रुप महारोग से उत्पन्न अनेक दुःखों को दूर करती है ।

वर्तमानकालीन स्व दुःख विषयक द्वेष सभी संक्लेशों का मूल है, वह अत्यंत संकुचितवृत्ति हैं, वह वृत्ति जब सभी दुःखी प्राणियों के दुःख जितनी विस्तृत बनती हैं तब संक्लेशों का नाश होता है और चित्त निर्मल बनता है ।

11) करुणाभाव तीर्थंकर पदवी का कारण है :– जैन सिद्धांत अनुसार तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित करने वाली पुण्यात्माओं में यह वृत्ति (करुणा) मुक्ति पूर्व के अंतिम तीन भवों में विशालता की पराकाष्ठा पर पहुँचती है । `सभी जीवों के सभी दुःखों का मूल कारण कर्म है, उससे सभी जीव मुक्त बनें ।' ऐसी विशाल करुणा उन्हें तीर्थंकर पद की समृद्धि दिलवाती है । यही सार्वभौम करुणा उनमें ऐसी योग्यता प्रकट करती है कि जिससे वे सर्वजीवों के सर्वदुःखों के नाशक ऐसे अनुपम उपाय सिखाने वाला परम पवित्र तीर्थ प्रवर्तन करते हैं । इस कारण उन्हें महागोप, महानिर्यामक, महासार्थवाह[1] आदि श्रेष्ठ उपाधियाँ, उपमाएँ प्राप्त होती हैं ।

12) स्वात्मविषयक करुणा का महत्त्व :– स्वात्म विषयक करुणा, (जिसकी व्याख्या पूर्व में बताई गई है ।) जीव को धर्ममार्ग में आगे बढ़ने हेतु अपूर्व उत्साह और बल देती है । साधना में आने वाले उपसर्गों और परिषहों को उत्सव रूप बनाती है । यही करुणा ग्रंथिभेद का मुख्य साधन है ।[2] सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही जैसे यह करुणा, शम आदि गुणों से युक्त बनती है उसी समय शुभपरिणामों की (आत्मा के शुभ अध्यवसाय) की अभिवृद्धि में सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण भाग निभाती है ।

13. करुणाभाव का निमित्त दुःख है, उस में सम्यग्दृष्टि आत्मा का विचार :– करुणा भावना का निमित्त दुःख है, उससे

---

1. महागोप अर्थात् – गोप यानी रक्षक, जिस तरह गोपाल अपनी निश्रा में रहे हुए पशुओं का पालन, संरक्षण आदि करता है, वैसे ही तीर्थंकर भगवान सभी जीवों के पालन (धर्मपुष्टि), अधर्म से संरक्षण आदि करने से वे महागोप हैं ।

2. सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व जीव राग और द्वेष की ग्रंथी में भेद करता है उसे ग्रंथिभेद कहा जात है ।

करुणा भावना के अभ्यासी को संसार में रहे दुःखों का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। सम्यग्दृष्टि आत्मा उन दुःखों की विचारणा नीचे मुजब करती है।

'यह संसार जन्म, व्याधि, रोग, शोक, जरा, मृत्यु वगैरह अनेक दुःखों से भरपूर है। चार[1] गतियों में ऐसा एक भी स्थान नहीं कि जहाँ पर इनमें से एक भी दुःख न हो।'

नरकगति में वेदना का पार ही नहीं है। यहाँ से अनंतगुणा गर्मी और ठंड नरक में होती है। वहाँ की ठंड में नरक में से उठाकर किसी नारकी को सर्दी में हिमालय के उच्च शिखर पर बर्फ के बीच में बैठा दिया जाय तो भी वह कम ठंड लगने से खुश हो जाय। नारकी जीव परस्पर झगड़ते रहते हैं। एक दूसरे जीव के प्रति उनमें सदैव मत्सर (ईर्ष्या, द्वेष) होता है। वहाँ जीव को परमाधामियों द्वारा असह्य वेदनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। शाल्मलिवृक्ष के काँटे और असिपत्र वृक्ष में तलवार जैसे पत्तों का स्पर्श, तांबा आदि धातुओं के उबलते रस का पान, वैतरणी नदी में तैरना आदि अनेक प्रकार के दुःख कारक निमित्तों के बीच जीव को रहना पड़ता है। जिससे एक क्षण के लिये भी नरक के जीव को सुख नहीं मिलता। सर्वज्ञ के सिवाय उनकी पीड़ा को संपूर्ण तरीके से कोई नहीं जान सकता है।

तिर्यंच गति के दुःख भी अत्यंत भीषण हैं। एकेन्द्रियादि जीवों को भूख, प्यास, ठंड, गर्मी, छेदन, भेदन जैसे अनेक दुःख सतत सहने पड़ते हैं। पशु भी चाबुक, अंकुश के प्रहार, वध, बंधन, भूख, प्यास से निरंतर पीड़ित बनते हैं। मनुष्यों को युद्ध, अकस्मात् आदि के अनेक दुःख हैं, उनकी बाल्य, यौवन आदि सभी अवस्थाओं में विविध तरह के दुःख हैं। कहा गया है कि–

'निर्विवेकतया बाल्यं, कामोन्मादेन यौवनम्।
वृद्धत्वं विकलत्वेन सदा सोपद्रवं नृणाम्॥'

बचपन में विवेक न होने से, यौवन में काम के उन्माद से और

1. नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव चार गतियाँ हैं।

वृद्धावस्था में अंग विकल (जर्जरित) होने से मनुष्य की सभी अवस्थाएँ सदा उपद्रव वाली हैं ।

देवों को भी दुःख का पार नही है । अवधिज्ञान से जैसे ही उन्हें अपने च्यवनकाल का ज्ञान होता हैं, तब उनके दुःख की सीमा नहीं रहती । `अशुचि से भरे मातृगर्भ में प्रवेश करना पड़ेगा', इत्यादि विचारों से उन्हें शूली से भी अधिक वेदना होती है । देवताओं में भी ईर्ष्या, परस्पर कलह आदि चलते रहते हैं । देवताओं को भी जो सुख है वह मधुलिप्त तलवार को चाटने जैसा है । पैरों में तकलीफ हो और कोई मालिश करे तो बहुत अच्छा लगता है । परंतु वह स्थायी सुख नही, वह तो दुःख का प्रतिकार मात्र है । ऐसा ही सुख देवलोक का है । संसार में रहे अनेक दुःखों का प्रतिकार मात्र है ।

दुःख स्वरूप संसार का अवलोकन करने के बाद सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रामाणिक सोच से विचार करता है :– दुःख रूप जल से परिपूर्ण ऐसे इस भवसमुद्र को पार कर सके ऐसी शक्ति सभी जीवों को मिले । और जहाँ जन्म नहीं, रोग नहीं, भय नहीं, शोक नहीं, कोई भी अन्य बाधा नहीं, निरंतर अनुपम ऐसा सुख ही सुख है, वह मोक्ष सभी जीवों को मिले ।

वरबोधिसम्यग्दृष्टि की करुणा भावना :–

मोहान्धकारगहने, संसारे दुःखिता बत ।
सत्वाः परिभ्रमंत्युच्चैः सत्यस्मिन् धर्मतेजसि ।। (285)

``खेद की बात है कि धर्म का प्रकाश विद्यमान होते हुए भी जीवात्माएँ, मोह के अंधकार से गहन ऐसे संसार में दुःखी बन कर परिभ्रमण कर रही हैं ।''

अहमेतान् अतः कृच्छ्राद्, यथायोगं कथंचन ।
अननोत्तारयामिति, वरबोधिसमन्वितः ।। (286)

`मैं इन सभी जीवों को किसी भी उपाय से जैसे तैसे भी इस भयंकर दुःख से बाहर निकालूँ ।' श्रेष्ठ बोधि (सम्यग्दर्शन) से युक्त महात्मा ऐसा सोचते हैं ।

करुणादि-गुणोपेतः, परार्थव्यसनी सदा ।
तथैव चेष्टते धीमान्, वर्धमान महोदयः ।। (287)

करुणादि गुणोंवाले, सदा दूसरों के लिये कार्यरत, बुद्धिमान और प्रवर्धमान पुण्यवाले ऐसा प्रयत्न करते हैं ।

तत्तत्कल्याण-योगेन, कुर्वन् सत्त्वार्थमेव सः ।
तीर्थकृत्वमवाप्नोति, परं सत्त्वार्थसाधनम् ।।

सभी जीवात्माओं के लिये, हित के लिये उन सभी हितकर कार्यों को करने वाला, जीवों के कल्याण के परम साधन तीर्थंकर पद को पाता है ।

15. करुणा की व्यापकता :– जैसे हमें दुःख अप्रिय है वैसे ही सभी जीवों को दुःख अप्रिय है । [1]जो आपको अप्रिय लगे, वैसा आचरण दूसरों के साथ नहीं करना । [2]यही अहिंसा है और यही परम धर्म हैं । अहिंसा एक तरह से करुणा का ही फल है । इसी तरह सत्य आदि व्रत भी करुणा भाव से ही जन्म लेते हैं । सर्व सत्क्रियाएँ, सर्वधर्मअनुष्ठान, सर्व आगमवाक्य आदि के पीछे छुपा हुआ स्वात्मविषयक अथवा परात्मविषयक करुणा भाव बसा है ।

नमस्कार महामंत्र में करुणा के समुद्र पाँच परमेष्ठी का ही स्मरण है । प्रतिक्रमण [3]क्रिया में पाप करने वाली ऐसी अपनी आत्मा के प्रति करुणा रही है ।

---

1. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा ।
पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पिया ।। (आचारांग सूत्र) अ.2,92-93

सभी प्राणियों को सुख प्रिय है, आयुष्य प्रिय है, दुःख पसंद नहीं, मरना (वध) पसंद नहीं, जीना पसंद है, जीने की इच्छा है, सभी को जीवन प्रिय है ।

2. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् । (योगशास्त्र टीका)

जो हमारे लिये प्रतिकूल है वह आचरण दूसरों के साथ नहीं करना ।

3. आत्मशुद्धि के लिये जैन धर्म में छह आवश्यक क्रियाएँ आवश्यक मानी गई हैं । 1. सामायिक, 2. चतुर्विंशति स्तव, 3. वंदन, 4. प्रतिक्रमण, 5. कायोत्सर्ग, 6. प्रत्याख्यान । इसमें पाप कर्म से पीछे आना और पाप करनेवाला अपनी आत्मनिंदा, गर्हा करना, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं । और उसके अंगभूत सामायिक आदि शेष पाँच आवश्यक साथ में करने होते हैं ।

16. गुरु की करुणा :– जिस तरह गुणाधिक आत्माएँ (जो आत्माएँ ज्यादा गुणों से परिपूर्ण हों ।) प्रमोदभाव के विषय के अंतर्गत आती हैं । वैसे हीनगुण (कम गुणोंवाली आत्माएँ) भी करुणाभाव का विषय हैं । शिष्य को गुरु के प्रति प्रमोदभाव होता है । गुरु को वैसे ही शिष्य के प्रति करुणाभाव होता है । करुणा के कारण ही गुरु, शिष्य के सभी गुणों का विकास (सर्वांगीण विकास) करने के लिए दिन-रात प्रयत्न करते हैं । सारणा, वारणा[1] के पीछे मुख्य रूप से करुणा भाव ही काम करता है ।

17. हीनगुण के प्रति करुणा के बिना अनुष्ठान सिद्ध नहीं होता :– स्वयं जिस अनुष्ठान की साधना कर रहे हैं, वह अनुष्ठान जिन्हें नहीं मिला है उनके प्रति जो करुणा न हो तो साधक अपने अनुष्ठान में कभी सिद्धि पा नहीं सकता है । नीचे की भूमिका पर रहे हुए जीवों के प्रति जो करुणा भाव न जागे तो समझना कि साधक को अपने अनुष्ठान का वास्तविक प्रणिधान नहीं मिला है । षोडशकादि ग्रंथों में प्रणिधान के लक्षणों में ही हीनगुणी के प्रति की करुणा का समावेश किया हुआ है । हीनगुणी के प्रति करुणा उत्पन्न न हो तब उसमें कई बार स्वोत्कर्ष (दूसरों से मैं हमेशा आगे और आगे ही रहूँ वैसी स्वार्थ भावना) अथवा परापकर्ष (अपने से दूसरों को छोटा समझना पीछे रखने की स्वार्थभावना) कारण होता है । स्वोत्कर्ष को साधने में जीव `मैं दूसरों से श्रेष्ठ हूँ ।' और परापकर्ष में `दूसरे सभी मुझ से निम्न हैं ।' ऐसा वह बताना चाहता है । करुणा भावना का साधक इन दोनों से दूर ही रहता है ।

करुणा के विरोधी तिरस्कार और उपेक्षा हैं । हीनगुण के प्रति तिरस्कार और दुखियों के दुःख के प्रति उपेक्षा भाव अचरमावर्त काल में होता है । जो दूसरों का तिरस्कार करता है उसे बदले में तिरस्कार ही

---

1. सारणा, वारणा, चोयणा, पडिचोयणा आचार्यो के चार खास कर्त्तव्य हैं । अपनी निश्रा में रहे हुए साधुओं को स्वयं के दोषों का स्मरण करवाना, यह सारणा है । साधुओं के संयम में दोष दिखे तो उसका निवारण करना, वह वारणा है । साधु प्रमाद में रहते हों तो उन्हें उसके योग्य उपायों से सन्मार्ग की तरफ मोड़ना, प्रेरित करना वह चोयणा और जरूरत पड़े तो बार-बार प्रेरणा करते रहना वह पडिचोयणा है ।

मिलता है । और जो दुःखियों की उपेक्षा करता है, उसे दुःख के समय दूसरों की सहायता नहीं मिलती है । करुणा भावना के निरंतर अभ्यास से, यह तिरस्कार और उपेक्षा रूपी अशुभ चित्तवृत्तियाँ और उसके फलस्वरूप तिरस्कार और असहाय दशा का विलय होता है । इसलिये करुणा भावना को विकसित करने के लिये प्रत्येक साधक को साधना करनी चाहिये । करुणा का विकास करना साधक का परम कर्त्तव्य है ।

18) सर्वश्रेष्ठ करुणा :– हितोपदेशदान[1] यह सर्वश्रेष्ठ दान है । जिनवचन हितोपदेश का रूप है । अर्थात् करुणामय है । श्री तीर्थंकर भगवंतों का मुख पुष्करावर्त मेघ[2] के जैसा है । उस मेघ में से हितोपदेश रुपी जल की प्रचंड वर्षा होती है । ज्ञान रुपी जलवर्षा से भव्य जीवों को परम शांति की अनुभूति होती है ।

19) ग्लान की उपेक्षा मत करो :– भगवान कहते हैं कि **'जो ग्लान (दुःखी) की उपेक्षा करता है, वह मेरी उपेक्षा करता है ।'** यह वचन यह बताता है कि जो करुणा का पात्र है उनके प्रति करुणाभाव नहीं रखना, यह तीर्थंकर परमात्मा की उपेक्षा है । उपर्युक्त वाक्य से यह साफ समझ में आता है कि ग्लान की सेवा तीर्थंकर की सेवा है । अर्थात् करुणा में तीर्थंकर की सेवा जितना पुण्य रहा है ।

20) जिनवचन का सार करुणा है :– दान, शील, तप और भावरुपी चतुर्विध धर्म में **दान**–इसे स्वात्म विषयक और परात्मविषयक दोनों प्रकार की करुणा में शामिल किया जा सकता है । अन्नदान, ज्ञानदान, अभयदान आदि में पर (दूसरों) की करुणा तो स्पष्ट है ही परंतु इस दान से जिस पुण्य का उपार्जन होता है उससे अपनी आत्मा पर भी अनुग्रह होने से दान को स्वात्मविषयक करुणा भी कहा जा सकता है ।

---

1. नोपकारो जगत्यस्मिंस्तादृशो विद्यते क्वचित् ।
यादृशी दुःखविच्छेदाद् देहिनां धर्मदेशना ।। (धर्मबिंदु 2.80)

प्राणियों के दुःखों का विच्छेद करने के लिये जो धर्मदेशना का उपकार करते हैं, वैसा उपकार इस जगत् में दूसरा कोई नहीं कर सकता है ।

2. एक प्रकार का मेघ (बादल) ।

शील आदि धर्म अधःस्थानवर्ती (नीचे की तरफ जाने) आत्मा को भी ऊपर उठाने के स्वभाव से स्वात्मविषयक करुणा का रूप है । शील और तप के कारण आरंभ, समारंभ से बचाव होता है, इसलिये एकेन्द्रियादि अनेक जीवों को अभयदान मिलता है । इसलिए इन दोनों को परात्मविषयक करुणा में भी गिना जाता है । इसी तरह योग में यम आदि अंगों में भी स्वपर करुणा रही है । श्रावक धर्म और यति धर्म दोनों में अहिंसा रूपी करुणाभाव की प्रधानता है । ऊपर की विचारणा से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि करुणा ही समग्र जिनशासन, जिनवचनों का सार है ।

21) करुणाभाव से होने वाले आध्यात्मिक लाभ :– करुणाभावना के निरंतर अभ्यास से अपने संक्लेश दूर होते हैं । दूसरों के दुःख-निवारण हेतु अपूर्व बल की प्राप्ति होती है । परोपकार के लिए सहजता से ही **सत्त्व** का विकास होता है । करुणाभाव से स्वार्थवृत्ति, अपने ही दुःख की चिंता करने का मोह, संकुचितता, तिरस्कार, अहंकार, परदुःख-उपेक्षा आदि चित्त की गलत वृत्तियों का नाश होता है और इससे निर्मल, साफ बना हुआ हमारा चित्त सद्बोध का स्रोत बन जाता है । इस तरह इस भावना से पाप का नाश और पुण्य का उपार्जन होता है ।

पहले हमने देखा कि जिनप्रवचन करुणामय होते हैं । ऐसे करुणामय प्रवचन में बसे रहस्यों को समझना हो तो हृदय में निरंतर करुणाभाव रमण करते रहना चाहिये । करुणा रहित हृदय परमकरुणावंत भगवान श्री जिनेश्वर प्रभु और उनके प्रवचनों को कैसे समझेगा ?

जो हीनगुणी आत्माओं के प्रति करुणा धारण करता है उन पर अधिकगुणी आत्माओं की करुणा प्राकृतिक तरीके से बरसती रहती है । यह करुणा के साधक का अधिकगुणी आत्माओं से मिलन करवाता ही है । जिससे साधक में नये-नये गुणों का प्रादुर्भाव होता ही रहता है ।

जो दूसरों के दुःखों को दूर करने के उपायों के बारे में सोचता है उसे परिणाम में (बदले में विकार बिना का अव्याबाध) सुख मिलता हैं ।

सभी भव्य जीव करुणाभाव के निरंतर अभ्यास की पराकाष्ठा पाकर **'करुणासिंधु'** पदवी का वरण करें, यही शुभेच्छा ।

करुणा भावना (संक्षिप्त)

1) निमित्त कारण :– दीन, आर्त्त, भीत, जीवित (जीवन) की याचना करने वाले आदि दुःखी जीव ।

2) निमित्त कारण के संघर्ष में आने वाला (मिलने वाला) उपादान कारण :– अपने दुःख के प्रति द्वेष, अपने दुःखों को दूर करने की चिंता, अपने सुख का अभिमान, दूसरों का बुरा करने की सोच आदि ।

3) उपादान कारण रुप अशुभवृत्तियों का आकार :– मेरा दुःख दूर हो । मुझे कभी दुःख ना मिले, मैं सुखी हूँ । मैं रूपवान हूँ, ऐश्वर्यवान हूँ आदि ।

4) निमित्त और उपादान के कारण पैदा होने वाले चित्तमल (आस्त्रव, बुरी चीजें) :– दुःखी जनों की तरफ उपेक्षा, निर्दयता, घृणा, तिरस्कार, अभिमान, द्वेष, जुगुप्सा (बुराई, घृणा सहित उपेक्षा) आदि ।

5) इन चित्तमलों के कारण से होने वाले अनर्थ :– दुःखी जीवों और स्वयं के दुःखों में वृद्धि, स्वार्थीपना आदि ।

6) चितमल नाशक उपाय :– `सभी के दुःख दूर हों ।' संसार दुःखमय है । ऐसी भावना, अपने वर्तमान के दुःख को दूर करने की चिंता के बदले उस दुःख के प्रति रहे द्वेष को दूर करने का प्रयत्न करना । अपने दुःख दूर करने जितनी या उससे अधिक दूसरों के दुःखों को दूर करने की लगन, उमंग रखना । सभी प्राणियों को आत्मतुल्य समझना आदि ।

7) उपाय संग्राहक शब्द :– करुणाभावना ।

8) करुणा की छोटी व्याख्याएँ :– परदुःख प्रहाणेच्छा करुणा, परदुःख विनाशिनी करुणा । हीनादिषु प्रतिकारपरा बुद्धिःकारुण्यम् ।

9) अन्य अर्थ (पर्याय) :– करुणा, अनुकंपा, दया, अघृणा, दीनानुग्रह आदि ।

10) प्रकार : 1. लौकिक (मोहजन्य, दुःखित दर्शन जन्य), 2. लोकोत्तर (संवेगजन्य, सम्यग्दृष्टि को और स्वाभाविकी अप्रमत्तादि महामुनियों को) 3. नैश्चयिकी, 4. स्वात्मविषयक, 5. परात्मविषयक आदि ।

11) फल :– तीर्थंकरत्व, स्व–पर के दुःखों का नाश, शुभ परिणामों में वृद्धि, अहंकार का नाश, दूसरों का अपकार (बुरा) करने की वृत्ति का नाश, आर्त्तध्यान का नाश, दया, व्रतों से सिद्धि, संक्लेश का नाश, सत्त्व, शील और प्रज्ञा में वृद्धि, पुण्योपार्जन, पापक्षय, परोपकार करने के लिए बल की प्राप्ति, अधिक गुणी आत्माओं की अपने प्रति करुणा, उनके साथ संबंध आदि । करुणार्द्र हृदय ही इन फलों को पा सकता है और समझ सकता है ।

- ❑ सम्यग्दृष्टि की करुणाभावना ।
- ❑ अनुष्ठान की सिद्धि हीनगुणी के प्रति की गई करुणा से होती है ।
- ❑ हितोपदेशदान यह सर्वश्रेष्ठ करुणा है ।
- ❑ ग्लान की सेवा यह तीर्थंकर की सेवा है ।
- ❑ गुरु को शिष्य के प्रति करुणा करनी चाहिए ।

।। करुणाभाव को नमस्कार ।।

महाकरुणा

सवि जीव करूं शासन रसी

यह तीर्थंकर भगवंतों की महाकरुणा है । **'मैं मोक्ष में जाऊँ, मुझे सुख मिले, मेरे दुःख दूर हों ।'** ऐसी व्यक्तिगत भावना **'श्री तीर्थंकर पदवी'** को प्रदान नहीं करवाती । परंतु **'सभी को मोक्ष मिले, सभी सुखी बनें, सभी के दुःख दूर हों ।'** ऐसी विश्वव्यापिनी महाकरुणा **'श्री तीर्थंकर'** की पदवी प्रदान करती है ।

''सभी के सब दुःखों का नाश हो'' यही मंगल कामना ।

4

माध्यस्थ भावना

1. माध्यस्थ का करुणा के साथ संबंध और व्याख्या :– करुणा में सभी दुःखियों के दुःखों को दूर करने की इच्छा और उसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न भी हैं । विश्व के दुःखी जीवों में कितने ही ऐसे जीव भी हैं जिनके दुःखों को यदि कोई दूर करने का प्रयत्न भी करे तो वे उल्टा हमारे सामने आ जाते हैं । हमें अपना अपकारक, अहित करने वाला समझते हैं । वे अंतर में इस तरह की इच्छा रखते हैं कि हम उनके बीच में ना पड़ें तो अच्छा । ऐसे जीव प्रायः अविनीत, निर्गुण, विपरीत वृत्तिवाले और हिंसादि क्रूर कर्मों में बेधडक, निडर होते हैं । ऐसे लोगों के प्रति काया एवं वाणी से मौन[1] रहना ही माध्यस्थ्य[2] है । मन में उनके प्रति करुणा भाव भावित रहना चाहिए । घातकी कार्य करने वाले विनयरहित जीवों के प्रति हमारा उदासीन भाव ही माध्यस्थ भाव है ।

2. माध्यस्थ के पर्याय :– माध्यस्थ के समानार्थी या पर्याय मध्यस्थता, वैराग्य, शान्ति, उपशम, प्रशम, उपेक्षा, उदासीनता, तटस्थता आदि हैं ।

3. उदासीन, तटस्थ और मध्यस्थ आदि के संबंध की एक विचारधारा :– उदासीन, तटस्थ और मध्यस्थ इन तीन शब्दों के गहरे अर्थ को ढूंढने पर एक नया पदार्थ मिलता है । उद् अर्थात् ऊपर, आसीन अर्थात् बैठा हुआ, तट अर्थात् किनारा और स्थ अर्थात् रहा

---

1. काया से मौन :– काया से कोई प्रवृत्ति या चेष्टा नहीं करना ।

2. **''क्रूरकर्मलक्षणाविनीतेषूदासीनतालक्षणात्मपरिणामरूपत्वं माध्यस्थलक्षणम्।''**

हुआ । मध्य अर्थात् बीच और स्थ अर्थात् रहा हुआ । इस तरह इन तीन शब्दों को इस तरीके से समझा जा सकता है ।

1. सांसारिक प्रवृतियाँ समुद्र है । जिस तरह समुद्र से दूर रहे पर्वत पर बैठकर कोई समुद्र को देखता है उसी तरह संसार समुद्र से दूर रहे सिद्धशिला पर विराजमान श्री सिद्ध भगवान इस संसार को देखते हैं । इस दृष्टि से वे परम उदासीन हैं ।

2. जिस तरह समुद्र के किनारे बैठा व्यक्ति समुद्र को देखता है, उसी तरह भवस्थ वीतराग भगवंत संसार समुद्र के किनारे बैठकर संसार को देखने वाले होने से परम तटस्थ हैं ।

3. जिस तरह समुद्र के बीच में नाव में बैठा हुआ व्यक्ति समुद्र को देखता है । वैसे संयम रूप भाव नौका में बैठकर संसार की तरफ देखने वाले अप्रमत्तादि महामुनि परम मध्यस्थ हैं ।

दूसरे तरीके से देखा जाय तो सांसारिक कार्य, प्रवृत्तियाँ करते हुए भी अंदर से अलिप्त रहने वाला वही मध्यस्थ, कुछ समय (काल में) सांसारिक प्रवृत्तियाँ करता हैं । कुछ समय (काल में) उनसे दूर रहता है । और इन दोनों अवस्थाओं में अंदर से अलिप्त रहता है वह तटस्थ और कुछ भी सांसारिक प्रवृत्ति नहीं करते और अंदर से अलिप्त रहते हैं वे उदासीन गिने जाते हैं । इस अपेक्षा से सोचने पर–

सम्यग्दृष्टि को मध्यस्थ
देशविरत को तटस्थ
सर्वविरत को उदासीन कहा जा सकता है ।

वैसे इन शब्दों पर नजर रखकर एक सोच की उत्पत्ति अलग-अलग रूप में हुई है । तत्त्व से ये तीनों शब्द एक ही अर्थ वाले हैं ।

4. माध्यस्थ के प्रकार :– माध्यस्थ 9 प्रकार के हैं ।

1. अतिपापी-विषयक 2. अहित विषयक 3. अकाल विषयक 4. अपमान विषयक 5. सांसारिक सुख विषयक 6. दुःख विषयक 7. गुण विषयक 8. मोक्ष विषयक 9. सर्व विषयक ।

1. अतिपापी विषयक माध्यस्थ :– जो लोग कुगुरु के उपदेश से गलत मार्ग पर आरूढ़ हो गये हैं, जिन्हें मिथ्यादर्शन[1] का और अज्ञान का तीव्र उदय है । हितोपदेश सुनने के बाद भी जिन्हें सत्य के प्रति द्वेष है, जो ग्रहण, धारण वगैरह बुद्धि के गुणों से रहित हैं ।[2] जो लोग अभक्ष्यभक्षण[3], अपेयपान[4], अगम्यगमन[5], मुनिघात आदि क्रूर कर्मों में भावशून्य हैं, जो वीतराग, सद्गुरु और सद्धर्म के निंदक हैं । जो अपनी सदोष आत्मा की प्रशंसा में मग्न हैं । और जैसे मुद्गपाषाण[6] पर पुष्करावर्त[7] मेघ भी निष्फल हो जाता है वैसे ही उन पर की गई सदुपदेश की प्रचंड वर्षा भी निष्फल हो जाती है । ऐसे अति पापी, भारी कर्मों, दोषपंकनिमग्न और अविनीत आत्माओं के दोषों की तरफ की गई उपेक्षा अतिपापी विषयक माध्यस्थ्य है । (यह माध्यस्थ व्यवहारनय का है । निश्चयनय का माध्यस्थ सर्व विषयक माध्यस्थ में कहलाता है) यहाँ पर लक्ष्य यह रखना चाहिए कि जिन दोषों का प्रतिकार (दूर करना) संभव हो उनकी तरफ उपेक्षा माध्यस्थ नहीं है । जिन दोषों को दूर करना असंभव है उनकी उपेक्षा माध्यस्थ है ।

क्रोध न करो :– विश्व में कितनी आत्माएँ शिकार आदि महाहिंसा के कार्य करते हैं और खुशी मनाते हैं । कितने ही लोग असत्य बोल कर

---

1. मिथ्यादर्शन–अतत्त्व को तत्त्व मानना और तत्त्व को अतत्त्व मानना । हेय को उपादेय और उपादेय को हेय मानना आदि ।
2. शुश्रुषा[1] श्रवणं[2], चैव, ग्रहणं[3], धारणं[4] तथा ऊहा[5-6]पोहार्थ विज्ञानं[7], तत्त्वज्ञानं[8] च धीगुणाः।।
3. शास्त्र दृष्टि से कंदमूल, मांस, अन्यायोपार्जित वगैरह पदार्थ भोगने योग्य नहीं हैं । इन पदार्थों का भोग अभक्ष्य भक्षण है ।
4. शास्त्रदृष्टि से मदिरा आदि नही पीने योग्य पीने की चीजों को अपेयमान कहा जाता है ।
5. परस्त्री आदि नहीं भोगने योग्य को भोगना अगम्यगमन है ।
6. एक जाति का छोटा परंतु अति कठोर पत्थर ।
7. शास्त्रों में बताए गए बारह प्रकार के मेघ है उसमें पुष्करावर्त्त नाम का मेघ जिसकी वर्षा अति प्रचंड होती है ।

दूसरों की Cheating करते हैं । गलत कार्यों में ही अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं । कितने ही लोग चोरी करके धन इकट्ठा करके खुश होते हैं । कितने ही लोग परस्त्रीगमन जैसे महापाप जीवन में करते हैं । कितने ही लोग अनगिनत ही धन, धान्य इकट्ठा करने में मस्त हैं । और कितने ही लोग क्रोधादि अनेक पापों में खुद का जीवन बरबाद कर रहे हैं । उन लोगों के पापाचारों को देखकर धर्म की प्राथमिक भूमिका में रहे जीवों को क्रोध व उससे पैदा होने वाले विकारों से स्वयं को बचाने व निवारण हेतु पापीविषयक, माध्यस्थ एक सुंदर उपाय है ।

अगर स्वार्थ साधने के लिये भी क्रोध करना उचित नहीं है तो जब किसी भी प्रकार के स्वार्थ का हनन न होता हो तब क्या क्रोध करना उचित है ?

क्रोध से कार्य सुधरने के बजाय और बिगड़ता है ।

'क्षमी यत्कुरुते कार्यं, न तत् क्रोधवशंवदः ।
कार्यस्य साधनी प्रज्ञा, सा च क्रोधेन नश्यति ।।'

जो कार्य क्षमावान (सहनशील) कर सकता है, वह काम क्रोध करने वाला नहीं कर सकता है । क्योंकि कार्य को साधने वाली प्रज्ञा है । जो कि क्रोध की वजह से नाश हो जाती है । कितने ही लोग `दूसरों के बारे में, उसे ऐसा करना चाहिए, उसे ऐसा नहीं करना चाहिए । उसने ऐसा पाप किया है तो उसे ऐसी सजा मिलनी चाहिए ।' ऐसी अनेक प्रकार की क्रोध की सूक्ष्म वृत्तियों से निरर्थक ही क्लेश को पाते हैं । जैसे की सारी दुनिया को सुधारने की जवाबदारी उन्हीं के सिर पर हो ! पर उससे क्या ?

क्रोध की वृत्तियों के जाल में फँसे जीव को सोचना चाहिए कि `अनंत बली श्री तीर्थंकर भगवान भी जगत् को पाप से सर्वथा मुक्त नहीं कर सके तो मेरी क्या ताकत है ? श्री जिनेश्वर देव भी जबरदस्ती धर्मप्रवर्तन नहीं करते तो क्या मेरे जैसे जीव का यह कार्य श्रेयस्कर

है ?' इस तरह माध्यस्थानुकूल विचारणा से क्रोधाग्नि का शमन होता है और आत्मा को प्रशमता की शीतल अनुभूति होती है ।

बार-बार समझाने व उपदेश देने पर भी अगला व्यक्ति अपने पाप को नहीं रोकता तो हमें अपने चित्त को कलुषित नहीं करना चाहिए । कर्मविपाक आदि का चिंतन (जिसका सामान्य रूप आगे समझाया जाएगा) करके आत्मा को मध्यस्थ बनाना चाहिए । 'कर्म के आवरण जब कम होंगे तब आत्मा स्वत:स्वयं ही हित का आचरण करेगी ।' ऐसा विचार करके मौन धारण कर लेना चाहिए ।

जिसके प्रति माध्यस्थभाव धारण किया जाता है वह पाप में ज्यादा नहीं डूबता । उलटा उसकी तरफ तिरस्कार भाव रखने से भविष्य में उसे सुधारने की उम्मीद नहीं रहती । तिरस्कार करने से वह अपने प्रति द्वेषी बन जाता हैं । किसी-किसी प्रसंग में तो यह द्वेष तीव्र वैर में भी परिणत हो जाता है । माध्यस्थ भावना से अपने प्रति उनका सद्भाव टिका रहता है और जिससे भविष्य में उसे सुधारने का मौका हमारे हाथ में रहता है ।

2) अहित विषयक माध्यस्थ :– यह माध्यस्थ करुणा में से उत्पन्न होता है । जैसे कि कोई रोगी अपथ्य सेवन करता हो तो उसे नहीं रोकते । हम जानते हैं कि अपथ्य सेवन करने से रोगी का अहित होगा परंतु अगर वह किसी की बात सुनने को तैयार ही नहीं और उसे किसी भी हालत में अपनी इच्छा ही पूरी करने का तीव्र आग्रह हो तो मौन रहना आदि अहितविषयक माध्यस्थ है ।

3) अकाल विषयक माध्यस्थ :– यह माध्यस्थ भविष्य की सोच से निकलता है । वर्तमान में कोई खराब कार्य करता हो और समझाने पर भी वह न रुकता हो तो **'वह अपने गलत कार्यों का परिणाम भुगतने के बाद ही भविष्य में समझेगा ।'** ऐसे में समझ पूर्वक मौन धारण करना यह अकाल विषयक माध्यस्थ है । प्रस्तुत में वर्तमान काल में उसे सुधारना व्यर्थ होने से अकाल कहलाता है ।

उपर्युक्त तीनों माध्यस्थ कई बार परस्पर जुड़े होते हैं अर्थात् एक दूसरे में समाए भी होते हैं–

4) अपमान विषयक माध्यस्थ :– बहुत लोगों को अपना अपमान सहन नहीं होता । अपमान करने वाले के प्रति उनका मन क्रूर बनता है और वैर लेने की इच्छा जन्म लेती है । परंतु अपमान करने वाले के सामने हमें अपने चित्त में क्रोध की ज्वाला को नहीं भड़काना है । प्रस्तुत में **'वह अपने कर्मों का फल पाएगा'** ऐसा विचार करके मध्यस्थ होना चाहिए । यह माध्यस्थ अपमान विषयक माध्यस्थ है । इससे (अमर्ष) वैर की इच्छा रूपी चित्तमल का नाश होता है ।

5) सांसारिक सुख विषयक माध्यस्थ :– भवस्वरुप के विज्ञान से और **'संसार निर्गुण है ।'** ऐसे निर्वेदजनक ज्ञान से, सांसारिक सुखों की इच्छा का विच्छेद करने वाला माध्यस्थ जन्म लेता है । वह सांसारिक सुखविषयक माध्यस्थ कहलाता है । विवेकी पुरुष के लिये सभी सांसारिक सुख दुःखस्वरूप हैं क्योंकि चारों गति में एक भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ पर कोई दुःख न हो । तत्त्वतः संसार में सुख नही किन्तु सुख का आभास है अर्थात् दुःख है । कारण यह है कि मधुलिप्त तलवार को चाटने जैसा दुःख को आमंत्रण देनेवाला है । दुःख से लिपटा और सुख जैसा दिखनेवाला वह दुःख ही है । देवलोक आदि में मिलने वाला सुख वह सिर्फ दुःख का प्रतिकार मात्र है । जीव को इस संसार में जहाँ-जहाँ सुख लगता है वह तो केवल भवाभिनंदिता को लेकर है । परमार्थ से वह सुख नहीं है । अंततः कारण कर्मजन्य होता है और यही दुःखों का हेतु है ।

'संसार दुःखमय है ।' ऐसी भावना से प्रथम वैराग्य को दृढ करना चाहिए । (वैषयिक सुख को उदासीन भाव से देखना) । यह वैराग्य, प्रशस्त मनोभावरूपी होने से पुण्यानुबंधी पुण्य को उपार्जन करवा कर स्वतः ही दूर हो जाता है । फिर बाद में सुख पर स्वतः ही माध्यस्थ (राग व द्वेष का अभाव) उत्पन्न हो जाता है ।

`सर्वं दुःखम्' यह भावना सम्यग्दर्शन को प्रकटाने वाली है । अर्थात् सुख विषयक माध्यस्थ में से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ।

6) दुःख विषयक माध्यस्थ :– इसी तरह दुःख में भी माध्यस्थ रखना चाहिए । (दुःख पर राग अनुकूलता की बुद्धि, कर्मनिर्जरा आदि का कारण बनता है ।) ऐसा मान कर दुःख के प्रति राग रखना चाहिए । यह राग प्रशस्त मनोभाव रूप होने से, दुःखविषयक माध्यस्थ (राग या द्वेष दोनों का अभाव) उत्पन्न करके उसका (दुःख) स्वतः ही नाश होता है ।

सुख विषयक या दुःखविषयक माध्यस्थ मूलतः तत्त्वज्ञान के बिना नहीं होता है । इसलिए उसे तत्त्वज्ञानजन्य सर्व विषयक मध्यस्थ में लेना चाहिए । (जिसका वर्णन आगे किया गया है ।) फिर भी यह दो प्रकार अति उपयोगी होने से थोड़े अलग वर्णित किये गए हैं ।

सुख या दुःख विषयक माध्यस्थ श्री तीर्थंकरों के जीवन में चरम पराकाष्ठा पर देखे जा सकते हैं । श्री शांतिनाथ भगवान[1] के जीवन में चक्रवर्ती का साम्राज्य होने पर भी वे उन भोगों में लिप्त नहीं हुए । यह उनका परम माध्यस्थ था । इस जाति के माध्यस्थ में सर्व सांसारिक इच्छाओं का विच्छेद हो जाता है और प्रवृत्ति[2] केवल कर्म के उदय[3] के कारण ही होती है । इस स्थिति को पाए हुए माध्यस्थ महात्माओं की रति केवल शुभवेदनीय कर्म के[4] उदय से ही होती है । इस माध्यस्थ का समावेश `योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रंथ में `कान्ता' नाम की दृष्टि में बताया हैं । वहाँ कहा गया हैं कि भोग को भोगने के समय भी आत्मशुद्धि का क्षय (कर्मबंध) नहीं होता । बल्कि शुद्धि की वृद्धि (कर्म निर्जरा)[5] होती है । जिस तरह मृगजल को मृगजल की तरह जानने वाला कोई भी आपत्ति

---

1. जैन दर्शन मे 24 तीर्थंकर है । उसमें 16वें तीर्थंकर ।
2. इस प्रवृत्ति को अन्य दर्शनकार `योगमाया' कहते हैं ।
3. उदय पहले उपार्जन किये गए कर्मों के फल का अनुभव (विपाक) ।
4. सुख या दुःख का अनुभव कराने वाले कर्म को जैन शास्त्र में अनुक्रम से शुभ (शाता) वेदनीय और अशुभ (अशाता) वेदनीय कर्म कहा जाता है ।
5. **कर्म-निर्जरा :–** कर्माणुओं का आत्मा से अलग होना ।

या उद्वेग के बिना उसमें से आराम से पार हो जाता है । उसी तरह भोगों को स्वरूप से मृगजल जैसा देखता है और अनासक्त तरीके से भोगता है ऐसा योगी परमपद को पाता है ।[1] इस दृष्टिकोण में आत्मा की धर्मशक्ति प्रबल दावानल जैसी होती है । जिसमें भोगसंयोग रूपी सामान्य वायु कैसे टिक सकती है ? उस अवस्था में विषय-प्रवृत्ति का संकल्प और विषय-निवृत्ति में मेहनत नहीं लगती । इन्द्रियों के विकारी स्वभाव का यहीं विलय हो जाता है ।

ऐसा प्रकृष्ट माध्यस्थ श्री तीर्थंकरों को गर्भावस्था से ही होता है ।

सर्वार्थसिद्ध[2] विमान में रहे हुए एकावतारी महात्मा इस विश्व के सर्वश्रेष्ठ वैषयिक सुख में स्वाभाविक मध्यस्थता धारण करके अपने जीवन को धन्य बनाते हैं । जैन शासन धन्ना, शालिभद्र, पृथ्वीचंद्र, गुणसागर[3] वगैरह सुख विषयक माध्यस्थधारी अनेक महापुरुषों के उदाहरणों से सुशोभित है ।

दुःख विषयक माध्यस्थ की साक्षात् मूर्ति श्रमण भगवान महावीर देव थे । साढे बारह वर्ष के साधना काल में अलग-अलग तरह के अनेकों उपसर्गों और परिषहों को इस माध्यस्थ से सहन कर लिया था । गजसुकुमाल[4], खंधक मुनि, खंधकसूरि के पांचसौ शिष्यों आदि अनेक

---

1. **'अनासक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः ।'**
आसक्ति रहित कर्म करता हुआ पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है । भगवद्गीता 3.91।

2. जिनोक्त लोकस्वरूप के अनुसार लोक के सर्वोपरि भाग में सिद्ध (मुक्त जीवों का अधिष्ठान) है । उसके नीचे पाँच विशाल देव विमान हैं । उन्हें अनुत्तर देवविमान कहा जाता है । वहाँ सर्व श्रेष्ठ दिव्य सुख होता है । इन पाँच विमानों में बीच वाला विमान 'सर्वार्थसिद्ध विमान' कहलाता है । इस विमान में रहे देव सिर्फ एक मनुष्य का भव करके मोक्षप्राप्ति करते हैं ।

3. इन महापुरुष का जीवन पढने व मनन करने योग्य है ।

4. गजसुकुमाल : ध्यानस्थ महामुनि के मस्तक पर धधकते अंगारे भरने पर भी, खंधकमुनि ने चमडी उधेड़ने पर भी, और खंधकसूरि के पाँचसौ शिष्यों को दुष्ट मंत्री द्वारा घाणी में पीसे जाने पर भी, वे सभी उन पीडाओं को समभावपूर्वक सहन करके मोक्षगामी हुए ।

महात्माओं ने भी दुःख विषयक माध्यस्थ से इस शासन को उज्ज्वल बनाया है ।

यहाँ पर इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि 'सुख विषयक प्रकृष्ट माध्यस्थ' अत्यंत दुर्लभ है ।

'योगदृष्टि समुच्चय' आदि में बताई गई छह दृष्टियों में से पार होने पर यह स्थिति आती है । बालजीव अपनी योग्यता और शास्त्रदृष्टि का विचार किये बिना ही 'ऐसा माध्यस्थ मुझे मिल गया है ।' ऐसा मानना उनका भ्रम है । यह भ्रम अधस्तन (निम्न) भूमिका की तरफ लेकर जाने वाला होने से उससे बचना चाहिए । यह प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य है ।

7) गुण विषयक माध्यस्थ्य :– सुख विषयक माध्यस्थ के पुनः पुनः अभ्यास से गुण विषयक माध्यस्थ उत्पन्न होता है । यहाँ पर गुण अर्थात् 'संयम' और 'तप से' उत्पन्न होती आकाशगामिनी विद्या आदि लब्धियों को समझना चाहिए । जिस तरह गेहूँ उगाने वाले किसान गेहूँ पाने की इच्छा रखता है । उसे खेती करते समय गेहूँ के साथ घास आदि भी मिलता है । वैसे ही मोक्ष की साधना करने वाले को मोक्ष तो मिलता है । साथ-साथ उसके पहले अनेक लब्धियाँ भी उसकी आत्मा में उत्पन्न हो जाती हैं । जिस तरह उगाने वाले को घास की प्राप्ति में उसकी (तुच्छत्व) मूल्यहीनता का ख्याल होने से उस पर गर्व नहीं होता उसी तरह गुणविषयक माध्यस्थ धारण करने वाले मोक्षार्थी महामुनियों को उन लब्धियों पर अहंकार नहीं होता । उनका सोचना यह होता है कि 'ये लब्धियाँ जिस भाव से प्रकट होती हैं वह 'क्षयोपशमभाव'[1] तो आत्मा की अपूर्णता है । आत्मा की अपूर्णता में आनंद कैसा ?'

8) मोक्ष विषयक माध्यस्थ्य :– गुण विषयक माध्यस्थ के पश्चात् मोक्ष विषयक माध्यस्थ उत्पन्न होता है । इस दशा में योगविंशिका आदि

---

1. क्षयोपशम : जीव की शक्तियों का आंशिक आविर्भाव ।

ग्रंथों में वर्णित असंग अनुष्ठान[1] की प्राप्ति होती है । इस अवस्था में मोक्ष प्रति का राग भी विलीन हो जाता है । यहाँ भव और शिव दोनों समान लगते हैं और आत्मा सहजानंदरूप अमृत के महासागर में मग्न बन जाती है ।

9) सर्व विषयक माध्यस्थ :– निश्चयनय की बुद्धि से शुभ या अशुभरूपी परिणाम को पाये हुए सभी जीवों और सभी पुद्गलों में रागद्वेष रहित परिणति यह सर्वविषयक माध्यस्थ्य हैं । यह श्रेष्ठ मध्यस्थ्य श्री केवली (सर्वज्ञ) भगवंतों को होता है । श्री केवली भगवंतों द्वारा बताये गये तत्त्वों का चिंतन है । अनेकांत दृष्टि से चिंतन करने वाले महात्माओं को भी यह माध्यस्थ्य स्वयं ही उनमें प्रकट हो जाता हैं । यह माध्यस्थ्य उन्हीं को मिलता है जो स्वपर आगम से पार हो चुके हैं और जिनकी बुद्धि नयों के रहस्य के ज्ञान से सूक्ष्मातिसुक्ष्म बन गई है । इस माध्यस्थ्य को धारण करने वाले महामुनि जगत् के सभी विचारों व सभी वचनों के प्रति मध्यस्थ होते हैं । इस माध्यस्थ का अर्थ सर्वनयाग्रही (सर्वनय सापेक्ष) आत्म-परिणाम इस तरह किया जा सकता है । प्रत्येक विचार एक नय रूप है । विचार अनंतानंत हैं इसलिए नय भी अनंतानंत हैं । बाल जीवों के उपकार के लिए बुद्धिनिधान श्री गणधर[2] भगवंतों ने उन नयों को सात विभागों में विभाजित किया है । पहले इन नयज्ञान का विस्तार बहुत ज्यादा था । क्योंकि उस समय में उन्हें धारण करने वाले पूर्वविद् आचार्य थे । आज वह ज्ञान परिमित (सीमित) है । और जितना ज्ञान बचा है उसका मनन, मंथन (अवगाहन) करने वाले श्री जिनशासन के रहस्यों के जानकार पुरुष भी अत्यंत अल्प संख्या में हैं । इस माध्यस्थ्य के एक बिंदु का भी स्वाद लेने से जीवन धन्य बन जाता है । यह महामाध्यस्थ्य अनेक तप, शम, दम आदि गुणों से युक्त गुरु की निश्रा में सिद्ध हो सकता है ।

---

1. योग विंशिका में भक्ति, प्रीति, वचन और असंग इन चार प्रकार के योगानुष्ठानों का वर्णन लिया गया है । उसमें यह चौथा है ।

2. गणधर :– जिनवचनों को सूत्ररुपी ग्रंथ में पिरोने वाले महाज्ञानी जी ।

अनेकांतवाद क्या है ? नय क्या हैं ? भंग क्या ? आदि समझाने के लिये यह स्थान नहीं है । जिज्ञासुओं को योग्य गुरुओं का अवलंबन लेना चाहिए । प्रस्तुत में तो इस माध्यस्थ्य का थोड़ा वर्णन यहाँ पर किया जा रहा हैं ।

इस महामाध्यस्थ्य के बिना वस्तुतत्व के यर्थाथस्वरूप का निश्चय संभव नहीं है । यह महामाध्यस्थ्य उत्सर्ग और अपवाद, निश्चय और व्यवहार, विधि और निषेध, ज्ञान और क्रिया आदि सभी जोड़ों में (दशाओं में) सापेक्षता को धारण करता है । वह आगमिक पदार्थों का जिनाज्ञा के आधार और युक्तिगम्य पदार्थों का युक्ति (तर्क) से निर्णय करता है । वह अन्य दर्शनों के सभी पदार्थों को स्वदर्शन में समवतार (बराबर) कर सकता है । जिस तरह लाख में शत, सहस्त्र आदि सभी आ जाते हैं उसी तरह जैन आगमोक्त भावों में अन्य दर्शनीय आगमोक्त भाव स्वतः ही समा जाते हैं ।

बौद्ध दर्शनोक्त सभी पदार्थों को न्याय देने हेतु श्री जैनागम का एक अकेला सूत्र **ऋजुसूत्रनय** ही काफी हैं । वेदांतमत और सांख्यमतरूपी नदियाँ **संग्रहनयरुप सूत्र** महानदी में समा जाती है । न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन दोनों का संग्रह **नैगमनय** में हो जाता है । और शब्द ब्रह्म को मानने वाली वैयाकरणदृष्टि **शब्दनय** का ही एक अंग है ।

महान्यायाधीश अथवा महापिता :– इस महामाध्यस्थ्य को धारण करने वाले महामुनियों को महान्यायधीश अथवा महापिता की उपमा दी जा सकती है । जिस तरह न्यायाधीश किसी के भी प्रति पक्षपात रहित होकर न्यायदृष्टि का अनुसरण करता हैं । उसी तरह यह महान्यायाधीश भिन्न भिन्न नयरूप वादी व प्रतिवादियों की तरह पक्षपातरहित, सभी को हितकर और स्याद्वादरुपी अमृत से आर्द्र ऐसी न्यायदृष्टि को धारण करता है । जिस तरह पिता अपने सभी पुत्रों को प्रेम से निहारता है, वैसे ही यह महापिता सभी नयों के प्रति वात्सल्य को

धारण करता हैं । वे अपने नयपुत्रों को कहते हैं कि **``तुम सभी अपने-अपने अर्थ में सत्य हो ।[1]''**

`मैं ही सही हूँ, तुम सभी गलत हो, `ऐसा कहकर अपने दूसरे भाइयों का धिक्कार नहीं करना चाहिए । ऐसा करने से तुम्हारी सत्यता का नाश होता है ।' यह महापिता वास्तव में बहुत महान् है । एकांतवाद[2] की प्ररूपणा करके अपने सामने कंकर फेंकने वाले कुशास्त्र प्रणेताओं के प्रति भी वह निःसीम करुणा को धारण करता है । महामाध्यस्थ्यमयी उनकी दृष्टि उन कंकडों को भी अलंकार में बदलने की क्षमता रखती है अर्थात् महामाध्यस्थ्यों के लिए कुशास्त्र भी सुशास्त्र में बदल जाते हैं ।

अनेकांत भावनारूप महाअमृत :– उन महामाध्यस्थों का प्रत्येक विचार अनेकांतवाद भावना[3] (सर्वत्र अनेकांत चिंतन) रूप महाअमृत से अतिपवित्र बना होता है । किस प्रसंग पर की दृष्टि (कौनसे नय) को आगे रखने में स्व-पर का हित होता है । इस लक्ष्य को पाने हेतु सतत कार्यरत रहते हैं । उनके हृदय में बसे महामाध्यस्थ के कारण उनके वचन सागर से भी अधिक गंभीर और चंद्रमा से भी अधिक सौम्य होते हैं । विश्व में

---

1. नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने ।
समशीलं मनो यस्य स मध्यस्थो महामुनिः ।।

अपने अपने अभिप्राय में सत्य और दूसरों में निष्फल, ऐसे नयों में जिनका मन समभाव को धारण करता है वे महामुनि मध्यस्थ हैं । (ज्ञानसार अष्टक 19.3)

'नियनियवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा ।
ते पुण अदिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ।।'

सभी नय अपने-अपने वक्तव्य में सही हैं, परंतु दूसरे नय के वक्तव्य का निराकरण करते हैं तो वे गलत हैं । अनेकान्त सिद्धान्त के ज्ञाता उन नयों को **'यह सही है, यह गलत है ।'** ऐसे विभागों में नहीं बाँटते हैं । (सन्मति तर्क, कां.गा.28)

2. एकांतवाद-किसी एक ही नय का आग्रह ।

3. उपाध्याय भगवान श्री यशोविजयजी महाराजजी ने तत्वार्थसूत्र प्रथम अध्याय की टीका में `अनेकांत भावना' का निर्देश किया है ।

2. षोडशक 13, श्लोक 10 की टीका में देखे ।
तत्वसारा उपेक्षा का विशिष्ट वर्णन ।

रहे सभी कलहों का समाधान उनके अंत:करण में पहले से ही होता है । इन महामाध्यस्थ के पास जाते ही चित्त में रही सभी तरह की अशांति का शमन हो जाता है । मन अवर्णनीय आनंद, संतोष (तोष) से भर जाता है और सभी आंतरिक प्रश्नों का निराकरण तुरंत हो जाता है ।

वस्तुओं में प्रियत्व या अप्रियत्व की कल्पना अपारमार्थिक है :– वस्तुओं में प्रियत्व और अप्रियत्व की व्यावहारिक कल्पना को महामाध्यस्थ दूर करता है । 1. मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ जीवाजीवादि वस्तुएँ परमार्थ से राग अथवा द्वेष की उत्पादक नहीं हैं । बल्कि अपने स्वयं का मोहनीय कर्म का उदय ही उस राग या द्वेष का उत्पादक है । अपराध वस्तुओं का नहीं, हमारी मोह-मूढ़ता (अज्ञान) का है । वस्तु मात्र अपने-अपने स्वभाव में व्यवस्थित है । एक वस्तु के प्रति आत्मा को अमुक वक्त में राग होता है और दूसरे समय में उसी वस्तु की ओर द्वेष होता है । एक व्यक्ति को अमुक वस्तु अमुक अपेक्षा से राग का कारण बनती है । उसी समय दूसरे व्यक्ति को वही वस्तु अन्य अपेक्षा से द्वेष का निमित्त बनती है । ऐसे प्रियत्व अथवा अप्रियत्व अपारमार्थिक (समन्वय) हैं । निश्चयनयाभिप्रेत भावना से महामाध्यस्थ सदा रहता है । ऐसा समत्व ही ज्ञानयोग है ।

सर्वकार्यों की सिद्धि आत्मा में है :– महामाध्यस्थों को अपने सभी कार्यों की सिद्धि या असिद्धि अपनी आत्मा में ही दिखती है । **'मेरी सिद्धि का कारण मेरी आत्मा में रही शुद्धता है । मेरी असिद्धि का कारण मेरी आत्मा में रही अशुद्धता है । मेरी आत्मा ही मेरे इष्ट व अनिष्ट की हेतु है । आपत्ति में मुझे मेरी आत्मशुद्धि को साधना द्वारा बढ़ाना चाहिए । यह शुद्धि ही मुझे आपत्तियों से बचा सकती है ।'**

ऐसी नैश्चयिक भावनाएँ चित्त में अत्यंत ही दृढ़ता पूर्वक रही होती हैं । बाह्य वस्तुओं की तरफ आकर्षित करने वाले विकल्पों के लिये उनके मन में कोई जगह नहीं होती । लोगों से मिलने वाली प्रशंसा, स्तुति, नमन,

वंदन, निंदा आदि के तीव्र बाण माध्यस्थ भावनारूप महाकवच धारक महामाध्यस्थ मुनि के मर्म को बींध नहीं सकते । [1]जिनके हृदय में माध्यस्थ नहीं है ऐसे मुनियों के चारित्रदेह को ऐसे बाण छिन्न-भिन्न कर देते हैं ।

आत्मा में रहे वही मध्यस्थ :– मध्य अर्थात् आत्मा । जिस तरह वृत्त (Circle) के मध्य में बिंदु होता है उसी तरह सभी प्रवृत्ति चक्रों का केंद्र आत्मा है । मध्य ऐसी आत्मा में रहता है वह मध्यस्थ । कहने का अर्थ यह है कि महामाध्यस्थ सदैव स्वरूप में ही रहता है । कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि भावों को गौण करके यह महामाध्यस्थ पौद्गलिक भावों का साक्षीमात्र रहता है और दृष्टा बनने से उस पर कर्मों का लेप नहीं लगता ।

स्वदर्शन के प्रति भी राग नहीं :– उन महामाध्यस्थ का माध्यस्थ इतना ज्यादा उच्च कोटि का बन जाता है कि उन्हें स्वदर्शन के प्रति राग और परदर्शन से द्वेष भी नहीं रहता । वह तो केवल सत्य का आश्रयी होता है । कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्यजी कहते हैं कि :–

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीर ! प्रभुमाश्रिताः स्मः ।।

(अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका)

हे वीर ! हमें केवल श्रद्धा से ही आप पर पक्षपात नहीं, वैसे ही केवल द्वेष से अन्य पर अरुचि भी नहीं हैं । बल्कि यथार्थ आप्तपने (बिल्कुल सही वचन) की परीक्षा से हमने आपकी शरण स्वीकार की है ।

---

1. **वंदिज्जमाणा न समुक्कसंति, हेलिज्जमाणा न समुज्जलंति ।**
दंतेण चित्तेण चरंति धीरा, मुणी समुग्घाइयराग दोसा ।।'

(आवश्यक निर्युक्ति)

धीर मुनिवर जिन्होंने अपने राग द्वेष का नाश कर दिया है और जिनका मन उनके वश में है, उन्हें जब कोई वंदन करता हैं, तब वे उत्कर्ष नहीं धरते और कोई निंदा करे तब गुस्सा नहीं करते और सदा संयम में रहते हैं ।

चारिसंजीवनी न्याय :– परम मध्यस्थ श्री वीतराग भगवंत के अलावा अन्य देवताओं को मानने वाले जीवों के प्रति भी चारिसंजीवनी[1] न्याय से वह महामाध्यस्थ परम हितकारी मध्यस्थ दृष्टि को धारण करते हैं । अन्य देवताओं की पूजा में भी वे श्री वीतराग भगवंत की पूजा की योग्यता को देखते हैं । उन्हें सभी सदाचार, कुलधर्म, सारे रीति रिवाज

---

1. संजीवनी नामक वनस्पति को चराते हुए पशु मनुष्य बन गया, उसी न्याय से । इस न्याय का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है ।

स्वस्तिमती नगर में ब्राह्मण की एक पुत्री और उसकी एक अत्यंत प्रिय सहेली थी । वे दोनों हमेशा साथ रहती थीं । परंतु शादी के बाद उन्हें अलग-अलग जगह पर रहना पड़ा ।

एक बार ब्राह्मण की पुत्री अपनी सहेली से मिलने उसके घर गई । सखी ने कहा, `मेरा पति मेरी बात नहीं मानता, इस कारण मैं बहुत दुःखी हूँ ।'

ब्राह्मण पुत्री ने सखी को कह, `तू चिंता मत कर, मैं तेरे पति को जड़ी बूटी खिला कर बैल बना दूंगी ।' फिर उसने भोजन में जडीबूटी मिलाकर खिलाया और उसे बैल बना दिया । पति के बैल बनने पर वह सखी बहुत दुःखी हो गई । वह अपने पति को रोज चराने ले जाती और उसकी उचित सेवा शुश्रूषा करती रहती । एक दिन वह वटवृक्ष के नीचे बैठ कर बैल को चरा रही थी, तभी एक विद्याधर युगल वृक्ष की शाखा पर विश्राम कर रहा था । दोनों बातें कर रहे थे । तभी वह विद्याधर बोला, `यह बैल स्वाभाविक नहीं है । बल्कि जडीबूटी के प्रभाव से पुरुष से बैल बना है । अगर इसे संजीवनी नामक जडीबूटी खिलायी जाय तो यह वापस पुरुष बन सकता है । यह संजीवनी इसी वटवृक्ष के नीचे है । यह सुनकर उस स्त्री ने सोचा, `अभी यह संजीवनी मैं बैल को चरा देती हूँ ।' परंतु वह संजीवनी को नही जानती थी । इसलिए उसने वटवृक्ष के नीचे की सारी वनस्पति बैल को चरा दी । उसमें संजीवनी होने से बैल वापस मनुष्य बन गया ।

सभी देवताओं को समान मान कर उन सभी को नमन करने वाले बहुत लोग होते हैं । वे लोग जैसे अन्य देवताओं को नमन करते हैं वैसे ही तीर्थंकर (वीतराग, जिनेश्वर) भगवंत को भी नमन करते हैं । इस संदर्भ में संजीवनी के स्थान पर श्री वीतराग परमात्मा को किया गया नमस्कार समझना ।

वे लोग अन्य देवता को नमन करते हैं तो भी महामाध्यस्थों को उनके प्रति अरुचि नहीं होती । क्योंकि वे जानते हैं कि जिनेश्वर भगवंत को किया गया `नमस्कार संजीवनी' उन्हें अवश्य ऊपर लाएगा ।

आदि सभी जीवों को श्री वीतराग भगवंत प्रणीत धर्म के प्रति लेकर लिए जानेवाले जान पड़ते हैं । (समझाते हैं)

निष्काम भाव :– अनुष्ठान के फलों के प्रति भी मध्यस्थ होते हैं । वे निष्काम[1] भाव से सदनुष्ठानों की साधना करते हैं । उसमें सभी अनुष्ठानों में कर्मक्षय अथवा आज्ञापालन का ध्येय होता है । परदर्शनोक्त ईश्वरार्पण जैन दर्शन में इस तरीके से घटाया जा सकता है । कर्मक्षय उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया गया अनुष्ठान श्री सिद्धभगवंत रूप ईश्वर को अर्पण होता हैं और आज्ञापालन के निमित्त किया गया अनुष्ठान श्री अरिहंत भगवंतरूप परमेश्वर को अर्पण होता है ।

ईश्वरार्पण अर्थात् निष्काम भाव ! प्रत्येक अनुष्ठान में महामध्यस्थ के चित्तरत्न में (स्मरण आदि रूप में) परममध्यस्थ श्री तीर्थंकर भगवान का अधिष्ठान होता है और उससे उसे सभी जगह पर माध्यस्थ की सिद्धि होती है ।

जिन प्रवचन का लक्ष्य माध्यस्थ :– विचार करने पर समझ में आता है कि श्री जिन प्रवचन, माध्यस्थ रस से लबालब भरा हुआ है । क्योंकि वह परम मध्यस्थ ऐसे श्री जिनेश्वर देवों का सर्जन है । श्री जिन प्रवचन का प्रत्येक अंग साधक को इस महामाध्यस्थ की ओर ले जाने के लिए प्रयत्न करता है ।

कर्म साहित्य :– जिस तरह नय आदि का चिंतन मध्यस्थ का कारण है, वैसे ही कर्म साहित्य भी महामाध्यस्थ प्रकट करने का उत्कृष्ट साधन है । श्री शास्त्रकार महर्षि कर्मविपाक[2] के चिंतन पर बहुत ज्यादा जोर देते हैं । जैन सिद्धांत के अनुसार कर्म `वेदान्तादि अभिमत माया की तरह काल्पनिक नहीं, (असत्) अनिवर्चनीय वस्तु नहीं, किंतु परमार्थ

---

1. निष्काम भाव : फल की आशा बिना । कार्य के फल की आशा, यह संसार वृद्धि का मूल कारण है ।

2. धर्म ध्यान का तीसरा प्रकार विपाकविचय है । उसमें साधक के कर्मों का विपाक कितना दारुण होता है, वह चिंतनीय है ।

से सत् है । जीव के शुद्ध स्वरूप को वह किस प्रकार बदलता है आदि वर्णन **'कर्म प्रकृति'** प्रमुख ग्रंथों से जान लेना चाहिए । **'जैन साहित्य के कर्म साहित्य के बराबर इस विश्व में अन्य कोई नहीं ।'** ऐसा कहने मात्र से उस साहित्य का मूल्य यथार्थ रूप से समझ में नहीं आता । परन्तु जब उसके चिंतन से उत्पन्न होने वाले महामाध्यस्थों का जीवन में अनुभव होने लगता है, तभी उसकी अमूल्यता समझ में आती है ।

कर्मविपाक का चिंतन :– कर्मविपाक के चिंतन से जीव मध्यस्थ बनता है । अपने-अपने बोध के मुताबिक जीव को हमेशा नया-नया चिंतन प्राप्त होता रहता है । सामान्यतः यह चिंतन इस तरीके से किया जा सकता है ।

किसी भी व्यक्ति के सामने आते ही सर्वप्रथम उसका रूप हमारी दृष्टि में पड़ता है । उस रूप का मूल कारण कर्म के अणु हैं । रूप देखते ही विचार करना चाहिए कि, `अहो ! अतिसूक्ष्म ऐसे कर्म के अणुओं से कैसा विचित्र औदारिक रूप का निर्माण हुआ है । कहाँ तो रूपातीत ऐसा जीव और कहाँ यह सामने दिखने वाला विचित्र प्रकार की आँखें, नाक, दाढी, मूँछ, हाथ, पैर वगैरह अनेक चित्र-विचित्र अवयवों से युक्त यह `मनुष्य' आदि जाति से पहचानी जानेवाली आकृति ! कर्मों ने इसे कैसी विचित्र चाल दी है ! वह कैसी विचित्र प्रवृत्तियाँ कर रहा है । कोई अपना चेहरा आइने में देख कर इतना खुश होता है तो कोई अपना कुरूप चेहरा दुनिया से छुपाता है । किसी की देह सुंदर आभूषणों से सजी है । तो किसी के शरीर पर फटा मैला वस्त्र है और किसी के पास तो वह भी नहीं है । इस तरीके से सभी जगह विचित्रता भरी पड़ी है । ऐसी परिस्थिति को देखकर महामाध्यस्थ महात्मा के अंतर में एक अद्‌भुत अलौकिक ऐसे हास्यरस का अनुभव होता है । अनंतदर्शन, अनंतज्ञान और अनंतचारित्र के महास्वामी आत्मा को कभी ऋषभ के रूप में, कभी ऊँट के रूप में, कभी चींटी के रूप में, कभी हाथी के रूप में, कभी

चांडाल के रूप में, तो कभी ब्राह्मण के रूप में देखकर उन्हें आध्यात्मिक आश्चर्य (विस्मय) होता है ।

इन सभी विचित्रताओं में महामाध्यस्थों की साम्यता भी अटूट दिखाई देती है । सभी चित्रविचित्र आकृतियों मे जीव स्वरूप को निहार-निहार कर वह अपूर्व आनंद का अनुभव करता है । इस तरह पुण्य और पाप की महालीला को बताते हुए वह विश्वरूपी महानाटक का महाप्रेक्षक बनता है ।

परमाणु पुंज :– सचेतन वस्तुओं के विषय में ऊपर बताया है वैसे ही जीव का स्वरूप, कर्मविपाक आदि के बारे में चिंतन करना चाहिए । अचेतन वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष न हो इसके लिए अनित्यत्व आदि भावनाएँ बताई गई हैं । अथवा समग्र अचेतन स्कंधों का मूल कारण जो परमाणु हैं उस तरफ हम अपने विचार को मोड़ते है तो भी मध्यस्थ प्राप्त होता है । घर, मोटर आदि सभी वस्तुएँ परमाणु के पुंज हैं । ऐसी कल्पना करनी चाहिए । अलग-अलग आकृतियों को धारण करने वाले होने से उन पुंजों में महामाध्यस्थ्य को राग या द्वेष नहीं होता है ।

आत्मज्ञान :– आत्मज्ञान के बिना उच्च प्रकार का सर्व विषयक माध्यस्थ कभी प्रकट नही होता । मध्यस्थ बनने के इच्छुक प्रत्येक मुमुक्षु के लिये आत्मज्ञान अतिआवश्यक होने से उसका थोडा स्वरुप हम यहीं पर जानते हैं ।[1]

5) माध्यस्थ की व्यापकता :– अनित्यादि बारह भावनाएँ, जीवादि नव तत्त्व, सर्व यम, सर्व नियम, सर्व क्रियाएँ, सर्व आगमों का लक्ष्य जीव को मध्यस्थ बनाना है ।

---

1. यहाँ से शुरू होने वाले विषय को सुज्ञ पुरुषों को नय दृष्टि से सोचना चाहिए । जिन्हें नय का ज्ञान नहीं है उन्हें इस दिशा में बहुत गहराई तक ज्ञानार्जन करना चाहिए । अध्यात्मसार से **'आत्मविनिश्चयाधिकार'** का आधार लेकर इस विषय को यहाँ पर रखा गया है । जिज्ञासुओं को विशेष ज्ञान के लिये इस विषय को वहाँ पर देखना चाहिए । यह विषय सिर्फ पढ़ने के लिए नही बल्कि आत्मा को उसमें भावित करने के लिये है । निरूपण में निश्चयदृष्टि को प्रधानता दी है ।

श्री वीतराग की मूर्ति भी मध्यस्थता की द्योतक है । मूर्ति की चक्षु के मध्य में रही स्थिर कनीनिका (आंख की पुतली) क्या मध्यस्थ नहीं ? पद्मासन या कायोत्सर्ग मुद्रा भी माध्यस्थ्य की सूचक हैं । उत्संग में रमा नहीं, अर्थात् हृदय में राग नहीं और हाथ में शस्त्र नहीं, अर्थात् हृदय में द्वेष नहीं । इस राग और द्वेष का अभाव यही माध्यस्थ कहलाता है ।

चौदह पूर्व का सार श्री नवकार मंत्र भी माध्यस्थमय है । क्योंकि उसमें परम माध्यस्थ ऐसे श्री परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है । हम उन परमेष्ठियों का स्मरण आदि करते हैं, क्योंकि वे पूज्य हैं । पूज्यता माध्यस्थ के बिना नहीं आती । अर्थात् परमेष्ठियों को पूज्य पद पर स्थापित करने वाली भावना माध्यस्थ भावना ही है । इस तरह माध्यस्थ भावना श्री नवकार का सार बनती है और परंपरा से चौदह पूर्व का सार बनती है ।

अहिंसा भी एक तरह का माध्यस्थ है । हिंसा रूपी पाप, स्वार्थ वैर आदि कारणों से होते हैं । मांस भक्षण आदि में होने वाली हिंसा का कारण स्वार्थ है तो राग का कारण रूप है और वैर के कारण होने वाले खून आदि का कारण द्वेष है । इस तरह हिंसा, राग अथवा द्वेष से होती है । जबकि अहिंसा में राग भी नहीं और द्वेष भी नहीं, यह भी माध्यस्थ्य का एक प्रकार है ।

असत्यवचन के पीछे भी क्रोध, लोभ, भय आदि अनेक कारण होते हैं । उन सभी का समावेश राग और द्वेष में हो जाता है । राग या द्वेष होता है तभी असत्य वचन बोले जाते हैं । सत्य वचन बोलने में दोनों का अभाव होने से सत्य भी माध्यस्थ का ही अंग है । इसी तरह सभी व्रतों में, सभी नियमों में, योग के सभी अंगों में, योग की सभी दृष्टियों में, सभी आगमों में और सर्व अनुष्ठानों में सर्वत्र माध्यस्थ को देखना, सीखना चाहिए । (सभी में माध्यस्थ का प्रयोग कैसे किया जाता है समझना चाहिए) इससे माध्यस्थ भावना और ज्यादा दृढ होती है ।

6) माध्यस्थ की हमारे जीवन में जरूरत :– माध्यस्थ्य के बिना श्रेष्ठ प्रकार का जीवन संभव ही नहीं । जानते हुए या अनजाने में लगभग सभी लोग अनेक प्रसंगों में माध्यस्थ्य का अवलंबन लेते हैं । हम हमारे स्वास्थ्य को बाधित न करें ऐसा (अन्यूनाधिक) आहार लेते हैं, यह भी एक प्रकार का माध्यस्थ्य ही है । मानसिक, वाचिक या कायिक बलों का जहाँ-जहाँ पर भी समत्वपूर्वक नियोजन है वहाँ सभी जगह पर माध्यस्थ्य है, ऐसा समझना चाहिए ।

'कमखाना, गम खाना' ऐसे शब्द प्रयोग व्यवहार में कई बार सुनने में आते हैं । 'कमखाना' यह आहार विषयक माध्यस्थ्य है । इसे उपलक्षण से सर्व विषयों के उपभोग विषयक माध्यस्थ्य में भी लिया जा सकता है । 'गमखाना' यह कषाय विषयक माध्यस्थ्य को सूचित करता है ।

7) माध्यस्थ्य के भंग से होने वाले नुकसान :– जहाँ-जहाँ माध्यस्थ्य का भंग होता है वहाँ पर रोग, शोक, क्लेश, भय आदि अनिष्ट आते हैं । जिस व्यक्ति के आहार में माध्यस्थ्य नहीं, अर्थात् जो जरूरत से अधिक खाता है और गृद्धिपूर्वक आहार लेता है वह अनेक रोगों का शिकार बनता है । शक्ति से अधिक बोलने से कंठ आदि के रोगों का शिकार बनता है । 'इस जगत में जितने प्रकार के दुःख हैं वे सभी माध्यस्थ्य को नहीं अपनाने से उत्पन्न होते हैं ।' ऐसा विचार करने से विवेकी पुरुष सदा मध्यस्थ बनते हैं ।

8) माध्यस्थ के लाभ :– माध्यस्थ भावना से हमारे और हमारे संपर्क में आने वाले अनेक जीवों के शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्लेशों का नाश होता है । आर्त्त एवं रौद्र ध्यान से बचने का यह प्रबल साधन है और यह हमें धर्म ध्यान में आगे बढ़ाता है । माध्यस्थ्य भावना के अभ्यास से हमारे विचार, वचन और कायिक प्रवृत्तियाँ न्यायमार्ग का अनुसरण करती हैं । किसी भी प्रसंग को उचित न्याय देने में हम समर्थ बनते हैं । अहंत्व, ममत्व आदि सभी दुष्ट भावों को, माध्यस्थ्य हमसे दूर रखता है । राग और द्वेष जैसे प्रबल शत्रु भी माध्यस्थ्य से डरते हैं ।

सुख, दुःख वगैरह मध्यस्थ को परेशान नहीं कर सकते हैं । माध्यस्थ्य भावना से पाप का क्षय होता है और सत्त्व, शील और प्रज्ञा में वृद्धि होती है । मध्यस्थ्य ही सच्चे न्याय को तौल सकता है और सभी को प्रिय और पूज्य बनाता है । माध्यस्थ्य भावना कर्म निर्जरा का अमोघ शस्त्र है । जिनप्रवचन माध्यस्थ्य (अनेकांत) रूप होने से जैसे-जैसे हम माध्यस्थ्य-भावना में आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे प्रवचन के रहस्य हमारे लिए खुल जाते हैं । समझने का तरीका बदल जाता है । मध्यस्थ को इंद्रियजय, सम्यक्त्व, शांति, मार्दव, आर्जव, संतोष, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, औदार्य, दाक्षिण्य, पापजुगुप्सा, निर्मलबोध, जनप्रियत्व, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिक्य, मैत्री, प्रमोद, करुणा वगैरह सर्व गुण स्वयं ही माध्यस्थ्य का वरण करते हैं ।

योग के आठ अंगों में तीसरा अंग आसन है । ध्यानादि में विकास साधने के लिए आसन का जय बहुत ज्यादा आवश्यक है । माध्यस्थ्य नहीं होने से एक आसन में बैठने पर जीव स्थिरता नहीं पाता । उसका मन अन्यत्र भटकता रहता है । और परिणामतः वह आसन-जय नहीं कर पाता, मध्यस्थ पुरुष अलिप्त होने से स्थिर बैठ सकता है । तात्पर्य यह है कि माध्यस्थ्य को आसनजय सहज बनता है ।

9) शुभेच्छा :– जिनपूजा आदि द्रव्यस्तव में होने वाली हिंसा को भी अपेक्षा से अहिंसा कहने वाली और निह्नवों[1] की अहिंसा को भी अपेक्षा से हिंसा तरीके से पहचान कराने वाला महामाध्यस्थ्य ऐसा जिन प्रवचन अत्यंत गंभीर है । अतिगहन जिन प्रवचनों में भी माध्यस्थ्य का (अनेकांतवाद) का विषय अति गूढ़ है । सभी भव्य जीव जिनवचनों में रहे गूढ़तम माध्यस्थ को पाकर परम मध्यस्थ (अरिहंत, सिद्ध) बनो । यही शुभेच्छा ।

// माध्यस्थ को नमस्कार //

1. जिनोक्त तत्त्वों का अपलाप करने वालों की ।

माध्यस्थ भावना

(संक्षिप्त)

1. विषय :– (अ) आत्मप्रशंसक, अप्रज्ञाप्य, अविनीत, हिंसादि क्रूर कर्म का आचरण करने वाले, उन्मार्गगामी, अहित का आचरण करनेवाले, धर्मद्वेषी, अपमान करने वाले आदि अति पापी जीव ।

(ब) इष्ट या अनिष्ट वस्तुएँ ।

2. उपर्युक्त विषय के संघर्ष में आने वाला उपादान कारण (अशुभ वृत्तियाँ)

(अ) पापी की तरफ द्वेष, क्रोध, तिरस्कार, दुष्ट को सजा देने की प्रवृत्ति आदि ।

(ब) इष्ट के प्रति राग, अनिष्ट के प्रति द्वेष, अनुकूलता को ही पसंद करना, प्रतिकूलता नापसंद होना आदि ।

3. अशुभ वृत्तियों का आकार :– (अ) दुष्ट को सजा होनी ही चाहिए आदि ।

(ब) मुझे इष्ट मिले, अनिष्ट न मिले आदि ।

4. उपर्युक्त विषय और अशुभ वृत्तियों के संघर्ष से उत्पन्न होने वाले चित्तमल :– (अ) क्रोध, द्वेष, अमर्ष ।

(ब) इष्ट के संयोग में तथा अनिष्ट के वियोग में राग, इष्ट के वियोग तथा अनिष्ट के संयोग में द्वेष, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान आदि ।

5. इन चित्तमलों से होने वाले अनर्थ :– (अ) पापियों का हमारी तरफ द्वेष, पापियों की तरफ से होने वाले प्रत्याघात, उन्हें सुधारा नहीं जा सकता आदि ।

(ब) इष्ट को पाने के लिये और अनिष्ट को टालने के लिए कायिक और वाचिक अशुभ योग, विभावों में रमणता आदि ।

6. चित्तमलनाशक और सुखवर्धक उपाय :– (अ) पापी पाप से विमुख हों ऐसी भावना, पापियों के प्रति क्रोध, द्वेष इत्यादि नहीं करना । वह भविष्य में सुधरे ऐसी भावना रखना, मौन इत्यादि अरागद्वेषवृत्तिता का अभ्यास करना, अनेकांतवाद का अभ्यास करना आदि ।

7. उपायों का संग्रहात्मक शब्द :– माध्यस्थ्य भावना ।

8. पर्याय :– माध्यस्थ्य, औदासीन्य, उपेक्षा, अराग-द्वेषवृत्ति आदि ।

9. संक्षिप्त व्याख्या :– (अ) पापिषु उपेक्षा, (ब) सर्वत्र अराग-द्वेषवृत्ति ।

10. प्रकार :– अतिपापी विषयक, अहित, अकाल, अपमान, सांसारिक, दु:ख, गुण, मोक्ष और सर्वविषयक ।

11. उदाहरण :– श्री शांतिनाथ भगवान, श्री वीर भगवान, धन्नाशालिभद्र, पृथ्वीचंद्र, गुणसागर, गजसुकुमाल, खंधकमुनि, खंधकमुनि के 500 शिष्य आदि ।

12. फल :– (अ) पापियों की तरफ से प्रतिघात नहीं होता, उन्हें सुधारा जा सकता है । गांभीर्य, समत्व, पूज्यता, क्रोध, द्वेष, तिरस्कार आदि का शमन, आत्मशांति आदि ।

(ब) संक्लेशनाश, आर्त्तरौद्रध्याननाश, धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति, न्यायप्रवृत्ति, इन्द्रियजय, आसनजय, वीतरागता, कर्मनिर्जरा, स्वस्वरूप में रमणता, सर्वगुण-संपन्नता, सत्त्व-शील, प्रज्ञा में वृद्धि, जिनप्रवचन रहस्यज्ञानआदि ।

13. विशेष मुद्दे :–

1. जिन दोषों को दूर करना असंभव है, उनकी उपेक्षा करना ।

2. अनंतबली ऐसे श्री तीर्थंकर भगवान भी जगत् को पाप से सर्वथा मुक्त नहीं कर सकते, तो फिर मेरी तो क्या औकात है । ऐसा सद्विचार ।

3. सांसारिक सुख दुःख से जुडा होने से वह दुःख ही है ।

4. सर्वविषयक माध्यस्थ अनेकांतज्ञ को होता है ।

5. जिनप्रवचन का लक्ष्य **'जीव को'** सर्वत्र मध्यस्थ बनाना है ।

14. सर्वविषयक माध्यस्थ्य के मुद्दे :–

1. अनेकांतवाद और नयवाद का ज्ञान ।

2. वस्तुतत्त्व का यथार्थ निर्णय ।

3. सर्व जोड़ों (उत्सर्ग-अपवाद, ज्ञान-क्रिया, निश्चय-व्यवहार, विधि-निषेध आदि) के प्रति सापेक्षता ।

4. आगमिक पदार्थों का आगम से और युक्तिगम्य पदार्थों का तर्क से निर्णय ।

5. अन्य सर्व दर्शनों का जैन दर्शन में समन्वय ।

6. महान्यायाधीश महापिता ।

7. अनेकांत भावना ।

8. महामध्यस्थ के समीप अपूर्व शांति ।

9. सर्व प्रश्नों का निराकरण ।

10. वस्तुओं में प्रियत्व अथवा अप्रियत्व की कल्पना का अभाव ।

11. अपने सभी कार्यों की सिद्धि या असिद्धि में अनुक्रम से आत्मशुद्धि या अशुद्धि कारणभूत है ।

12. स्तुति अथवा निंदा में समत्व ।

13. पौद्गलिक भावों का कर्ता या भोक्ता आत्मा (निश्चय) नहीं । वह तो साक्षीमात्र है ।

14. चारिसंजीवनी चार न्याय से सर्व का हित ।

15. निष्कामभाव से सद्नुष्ठान की साधना ।

16. कर्मविपाक का चिंतन आदि ।

माध्यस्थ भावना प्रकरण पूर्ण ।

पवित्रता, आनंद और पूज्यता के साधन

मैत्रीपवित्रपात्राय, मुदितामोदशालिने ।
कृपोपेक्षाप्रतीक्षाय, तुभ्यं योगात्मने नमः ।।

(मैत्री के पवित्र भाजनभूत, मुदिता से प्राप्त होने वाले सदानंद से शोभायमान और करुणा व माध्यस्थ से जगत्पूज्य बने, योगस्वरूप हे वीतराग ! आपको नमस्कार हो !)

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्यजी के द्वारा विरचित **'श्री वीतराग स्तोत्र'** एक अतिगंभीर कृति है । इसमें श्री वीतराग भगवंत की सर्वश्रेष्ठ स्तुति है । छंद शास्त्र, अलंकारशास्त्र, न्यायशास्त्र, योगशास्त्र आदि की दृष्टि से उनका स्थान महत्त्व का है । श्री स्तुतिकार भगवंत ने जैनशासन के अनेक रहस्यों को इस स्तुति में गुप्त रीति से एकत्रित किया है । साधक आत्मा जब इस स्तोत्र के चिंतन में एकाग्र होती है तब वे रहस्य खुलते हैं । इन रहस्यों का ज्ञान होते ही आत्मा आनंद से नाच उठती है । जैसे-जैसे वह स्तुति समुद्र की गहराई में उतरती है, वैसे-वैसे उन्हें नये अद्‌भुत रहस्य रत्नों की प्राप्ति होती है । श्री स्तुतिकार भगवान की सर्वशास्त्रविषयक परिपूर्णता पर वे मुग्ध होते हैं ।

इस कथन के समर्थन में यहाँ लेख की शुरुआत में बताए गए (इस स्तोत्र के तीसरे प्रकाश के अंतिम) श्लोक पर विचार करते हैं ।

प्रस्तुत श्लोक में **'योगात्मने'** शब्द अति महत्त्व का है । योगात्म अर्थात् योगसिद्ध, सिद्धयोग, योगमय, योगस्वरूप आदि । श्री वीतराग भगवंत का यह एक सर्वश्रेष्ठ विशेषण है । श्री अरिहंत को ही योगात्मा कहा जा सकता है । क्योंकि उनको ही योग की सर्व महान् विभूतियाँ (प्रातिहार्यादि) वरण करती हैं । श्री अरिहंत परमात्मा के योगात्मत्व को बताने के लिये इस श्लोक की रचना है । उन्हें श्री स्तुतिकार भगवंत पवित्र, आमोद, और प्रतीक्षा इन तीन शब्दों से परिचित करवाते हैं ।

इन शब्दों में रही परम पवित्रता, परमानंदता और त्रैलोक्यपूज्यता, इन तीन उच्च गुणों को ध्वनित करते हैं और इन गुणों के कारण अरिहंतों को योगात्मा बताया गया है । ऐसा सूचित किया गया है ।

'मैत्रीपवित्रपात्राय' पद से श्री स्तुतिकार महर्षि एक महत्वपूर्ण विश्वनियम बताना चाहते हैं कि मैत्री भावना अभ्यास जीव को अरिहंत में बसी पवित्रता का भाजन बना सकता है ।

पवित्रता अर्थात् वैरादि चित्तमलों के नाश से प्रकट होने वाला आत्मगुण, जिनको भी इस पवित्रता की प्राप्ति करनी हो उनको मैत्री-भावना का चिंतन, मनन, निदिध्यासन और व्यवहार में उपयोग आदि करने के लिए अपनी आत्मा को भावित करना अत्यंत आवश्यक है । सर्व जीवों को परम मित्र की नजर से देखने वाले श्री अरिहंत परमात्मा की तरह हमें भी जगत् का मित्र बनना चाहिए । मित्र जिस तरह अपने मित्र की हितचिंता में लगा रहता है, वैसे ही हमें भी जगत् के सर्व जीवों की हितचिंता के लिये अपनी आत्मा को उद्यत बनाना चाहिए । तात्पर्य यह है कि पवित्रता की पुष्टि हेतु मैत्रीभावना एक अपूर्व रसायन है ।

'मुदितामोदशालिने' इस पद में प्रमोद भावना, परम आनंद और शोभा, इन तीन अर्थों को अनुक्रम से कहने वाले मुदिता, आमोद और शालि शब्दों से श्री स्तुतिकार भगवंत दूसरे विश्वनियम को शुरू करते हैं कि योगस्वरूप ऐसे श्री अरिहंतों को जो सर्वोच्च शोभा (सौंदर्यरूप प्रातिहार्यादि योगविभूतियाँ) प्राप्त होती हैं, उसका कारण उनका आमोद अर्थात् परम प्रसन्नता है । यह परम प्रसन्नता उन्हें मुदिताभावना की प्रकृष्ट साधना से वरण करती है । यदि हमें भी ऐसी शोभा और ऐसा आनंद चाहिए तो मुदिता भावना से हृदय को मुदित बनाना पड़ेगा । दूसरों के गुणों को देखकर जो व्यक्ति आनंद व हर्ष महसूस करता है उसको परमानंद स्वयं वरण करता है । गुणी आत्माओं के गुण और धर्म के शुभ आलंबनों को देखकर हृदय में अति आनंद पाने वाले आत्माओं

के बिना दूसरा कौन श्री तीर्थंकर की योगविभूतियों का भाजन बन सकता है ?

'कृपोपेक्षाप्रतीक्षाय' इस विशेषण से श्री स्तुतिकार भगवंत यह बताते हैं कि योगस्वरूप ऐसे श्री अरिहंत परमात्मा को जगत् पूज्य बनाने वाले करुणा और माध्यस्थ्य हैं ।

जिनके हृदय में यह करुणा और माध्यस्थ्य भावना चरमसीमा पर होती हैं, उनकी पूजा में तीनों लोक तत्पर बनते हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

सारांश यह है कि पवित्रता, आनंद और पूज्यता के साधन मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा हैं । इन चार भावनाओं के निरंतर सेवन से हम हमारे जीवन को पवित्र, आनंदमय और आदर्श बना सकते हैं ।

卐 卐 卐

卐 प्रमोद भावना 卐

सर्वेषामर्हदादीनां, थो योऽर्हत्त्वादिको गुणः ।
अनुमोदयामि तं तं, सर्वं तेषां महात्मनाम् ।।

वीतराग स्तोत्र-17-4)

श्री अरिहंत परमात्मा आदि महान् आत्माओं में जो अरिहंतपूजा आदि गुण है, उन सबकी मैं अनुमोदना करता हूँ !

अभ्यास हेतु सूचनाएँ

1. सुबह जल्दी उठकर आत्मचिंतन के प्रसंग में मैत्री आदि चार भावनाओं का चिंतन अवश्य करना चाहिए ।

2. उस समय ऐसा दृढ़ संकल्प करना कि इन चार भावनाओं में मैं अवश्य निष्ठा रखूँगा, क्योंकि भावनाओं के बिना जीवन ऊर्ध्वगामी नहीं बनता है ।

3. शुरुआत वाले हफ्ते में रोजाना कम-से-कम एक बार 10 मिनिट तक चिंतन करना । दूसरे हफ्ते से हो सके वहाँ तक समय बढ़ाना और दूसरी बार भी चिंतन करना । इस तरह अनुक्रम से समय बढाते जाना । जब दूसरा कोई कार्य न हो तब मन को भावनाओं से भावित करना ।

4. दिन में जितनी बार चिंतन करें उतनी बार उसको चिह्नित करना और अभ्यास के कोष्टक में चिंतन नामक जगह पर अंकित करना । एक अभ्यास किया तो एक बार अंकित (o) करना । इस प्रकार दूसरे अन्य चिंतन कोष्टकों में भी अंकित करना । कोष्टक पत्र सदैव अपने साथ रखना ।

5. नियम भंग होते ही तुरंत ही पूर्वनिर्धारित त्याग या प्रायश्चित्त करना । कम-से-कम तीन नवकार गिनना, चतुरक्षरी अरिहंत मंत्र 108 बार जपना ।

6. रोज शाम को कोष्टक का सिंहावलोकन करना और शाम तक निगरानी करना कि आज भावना में कितनी प्रगति हुई ।

7. रात्रि में निद्रा से पूर्व भावनाओं पर मनन अवश्य करना चाहिए ।

8. इस **धर्म-बीज** ग्रंथ में से जो पंक्तियाँ महत्व की लगें, उन्हें

Underline करना । लाल पेन से उन्हें अन्य वाक्यों से अलग बनाना ताकि उन वाक्यों का चिंतन मनन करने में सहायता मिले । विषय बार-बार देखने से जल्दी समझ में आता है और उसे रोज देखने से अंतर में उतरता है ।

9. एक वर्ष तक इन भावनाओं पर `मैं सतत प्रयत्न करूंगा' ऐसा दृढ संकल्प करना ।

10. बीमारी या विघ्न में इन भावनाओं पर अवश्य चिंतन करें ।

11. चिंतन के लिए पूर्व के महापुरुषों द्वारा बनाए गए **`शिवमस्तु सर्वजगतः'** आदि श्लोक बहुत उपयोगी हैं । हो सके तो ऐसे श्लोक कंठस्थ करें और उनका भी रोज पुनरावर्तन करें ।

12. दूसरों की हितचिंता के बिना धर्म की साधना शक्य नहीं, यह कभी नही भूलना चाहिए ।

अभ्यास का कोष्ठक

	मैत्री			प्रमोद			करुणा			माध्यस्थ		
	चिंतन	अमल	भंग	चिंतन	अमल	भंग	चिंतन	अमल	भंग	चिंतन	अमल	भंग
रवि	०	०		०			०		०	०		
सोम												
मंगल												
बुध												
गुरु												
शुक्र												
शनि												

'मैत्री-करुणा-प्रमोद-माध्यस्थमय धर्म-बीज' यही मेरे जीवन का ध्येय हैं । यही मेरा अमृत हैं । यही मेरी सर्वश्रेष्ठ संपत्ति हैं और यही मेरा सर्वस्व हैं ।

अंतिम वक्तव्य

ये चार भावनाएं अत्यंत दुर्लभ हैं । पूर्व के अनेक जन्मों में की गई मार्गानुसारी क्रिया के अभ्यास से पुण्यानुबंधी पुण्य की प्राप्ति होती है और उस पुण्य से युक्त आत्मा मैत्र्यादि भावनाओं के अभ्यास में आगे बढ़ सकती है ।

जिनको जिनवचन में श्रद्धा है, जब वे उसका अनुसरण करते हैं और जो यम और नियम से संपन्न हैं, उन्हें ये भावनाएँ जल्दी आत्मसात होती हैं ।

राग, द्वेष, ईर्ष्या, दूसरों का अपकार करने की इच्छा, असूया, अमर्ष (वैर, बदला लेने की वृत्ति) आदि मलों से भरपूर ऐसा चित्त साधना में बाधक है । महाप्रतिबंधक है । मैत्र्यादि भावनाओं के निरंतर अभ्यास से इन मलों का नाश होता है और सौजन्य, उदारता, गांभीर्य, हृदय की विशालता आदि धर्म में अति आवश्यक अनेक गुणों का प्रादुर्भाव होता है ।

जो लोग मैत्र्यादि भावनाओं के अभ्यास के बिना ही ध्यानादि साधनाओं में आगे बढ़ने की इच्छा रखते हैं, वे अति मलिन दीवार की सफाई किये बिना ही उस पर सुंदर चित्र बनाना चाहते हैं । मैत्र्यादि भावनाओं को हृदय में धारण किये बिना ही जो धर्म और उसके फल की इच्छा रखते हैं, उनका लंगड़ा होने पर भी मेरु पर्वत चढ़ने का दुस्साहस करने जैसा है । मैत्र्यादि भावनाएँ धर्मरूप महासागर की तुलना में छोटे से सरोवर जितनी हैं । सरोवर को तैरने की शक्ति बिना का मनुष्य महासागर को कैसे पार करेगा ?

मैत्र्यादि भावनाएँ ही परम अध्यात्म हैं, परम योग हैं और परम अमृत हैं । संपूर्ण श्री जिनप्रवचन का रहस्य भी ये चार भावनाएँ हैं ।

ये चार भावनाएँ जिनके मन में सतत रमती हैं, वे स्वयं और उनके संपर्क में आने वालों से समग्र विश्व पवित्र बनता है ।

'ये चार भावनाएँ मुनिजनों को आनंदित करने के लिये अमृत समान झरती अलौकिक चंद्रज्योत्स्नाएँ हैं । रागादि आंतरिक महाक्लेशों को ध्वंस करने वाली अमृत कूपिकाएँ हैं और मोक्षमार्ग को बताने वाली दीपिकाएँ हैं ।

इन चार भावनाओं में रात दिन यथेच्छ रीति से लीन बना योगी अत्यंत, सातिशय और अतीन्द्रिय आत्मिक सुख को इस लोक में निश्चयतः पाता है ।

इन भावनाओं में संलीन बनी आत्मा जगत् के स्वरूप को जानकर मुग्ध नहीं बनती, परंतु उसके अध्यात्म से निश्चय ही स्वरूप रमणता प्राप्त करती है ।

इन भावनाओं का जब अच्छी तरह से अभ्यास हो जाता है तब योगनिद्रा (ध्यान) में स्थायित्व आता है । मोहनिद्रा दूर होती है और तत्त्व का विनिश्चय होता है ।

उपसंहार

सुख पाने की इच्छा सभी जीवों में स्वाभाविक है । क्योंकि **'सच्चिदानंद'** इनका स्वभाव है । प्रत्येक जीव अपने इस मूल स्वभाव की तरफ पहुँचने का ही प्रयत्न करता है । इस प्रयास की तरफ उठाए गए कदम ही उसके पर्याय हैं । प्रत्येक कदम (पर्याय) उसको अपने मूल स्वरूप में पहुँचाने में शक्तिमान होता है । परंतु उसे स्वरूप का ज्ञान न होने से उसका मार्ग बदला हुआ है । इस वजह से उसका भवभ्रमण चालू है ।

सत्य मार्ग पर चलना ही **'धर्म'** कहलाता है । यह धर्म चारित्ररूप है और उसके दो प्रकार हैं । 1) गृहस्थ से पाला जा सके वह है देशविरति 2) दूसरा जो साधु बन कर पाला जाय वह हैं सर्वविरति, उसमें सामायिक आदि विशुद्ध क्रियाओं द्वारा प्रकट होने वाला सर्वजीव विषयक हित का आशय है कि यह अमृत तुल्य बनकर परिणाम से अजरामर पद प्राप्त करा सकता है । मुमुक्षु का जो आत्म परिणाम है उसे ही साधु धर्म कहा गया है ।[1] दूसरा अणुव्रतादि से यावत् श्रावक की प्रतिमा वहन करने से उत्पन्न होने वाला ऐसा ही साधु धर्म को प्राप्त करने के आशयरूप आत्मपरिणाम को श्रावक धर्म कहा गया है ।[2] जीव को अनादि मोह की वासना के कारण स्वयं के ही सुख को पाने की लालसा होने से वह प्रत्येक भव में सतत प्रयत्नशील रहता है । परंतु अन्य जीवों के दु:ख-सुख का विचार उसे नहीं होने से उन प्रयत्नों में झूठ, चोरी, हिंसा आदि अठारह पापस्थानों का सेवन करते हुए अन्य

---

1. 'साधुधर्म पुनः सामायिकादिगत विशुद्धक्रियाऽभ्यङ्गतः सकलसत्वहिताशयपरिणाम एव' ।
2. 'श्रावकधर्मोऽणुव्रताद्युपासक प्रतिमागतक्रियासाध्यः साधुधर्मामिलाषरुप आत्मपरिणामः' धम्मदयाणं पद की ललित विस्तरा टीका ।

जीवों के सुख के भोग से स्वयं सुखी होने के लिए कोशिशें करता रहता है । उसके परिणाम स्वरूप हिंसादि अपराधों के सेवन से अधिकाधिक कर्मबंधनों से अधिकाधिक दु:खी होता है ।

इन अनादि भूलों को सुधारने के लिए श्री जिनेश्वर देवों का आदेश है कि, `सर्वजीवों को सुखी और दु:खमुक्त करने की भावनापूर्वक उन-उन उपायों से हिंसादि पापों को रोककर अहिंसादि के पालन द्वारा सर्वजीवों को सुखी करनेवाला उपकारी जीवन जी कर कर्मबंधन से मुक्त बनो ! इस कारण से वह (श्री भगवंत द्वारा) ऊपर बताया हुआ उभय प्रकार का धर्म और उसका प्रकटीकरण, रक्षण, पालन करने के उपाय और उपाय रूपी, गृहस्थ को सम्यक्त्वमूल बारह व्रतों से लेकर ग्यारह प्रतिमाओं तक का कर्त्तव्य बताया है । यहाँ पर सम्यक्त्व अर्थात् सर्वजीवों को सुखी करने के शुभ आत्मपरिणाम रुपी सद्धर्म की रुचि । **`ज्ञान'** इन परिणामों को प्रकट करने वाले अणुव्रतादि इन उपायों का बोध और `चारित्र' अर्थात् यथाशक्ति इन उपायों का सेवन समझना । साधुजीवन जीने की योग्यता वालों को सामायिक चारित्र के ज्ञानपूर्वक उसके प्राणभूत अष्टप्रवचनमाता या पाँच महाव्रतों के पालनरुपी कठिनतम कर्तव्य करने के लिए कहा गया है ।

मेरे इन कर्त्तव्यों के पालन से **`सर्वजीव सुखी बनें, सर्व जीवों के दु:खों का नाश हो'** आशय धर्म कहलाता है क्योंकि हमारे जीव पर प्रत्येक जन्म में अन्य जीवों ने विविध प्रकार के उपकार किये हुए हैं ।[1] इससे सभी जीवों के उपकार का ऋण हमारे उपर चढ़ा है । इस ऋण का बंधन यही हमारे संसार कारावास का कारण है । उसमें से छूटने हेतु ऋणमुक्ति सिवाय अन्य कोई उपाय कारगर नहीं है । ऊपर बताये गए कर्त्तव्यों के पालन से ही सर्वजीवों को सुखी करने की भावना, यही इसका सच्चा उपाय है । इसी मार्ग से ही ऋणमुक्ति होती है । इसलिए ज्ञानियों ने इसे ही धर्म कहा है ।

---

1. **`परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** तत्वार्थाधिगम, 5-21

इस आशय को प्रगट करने हेतु मैत्रीभावना बीजरुप है । और उसमें से प्रकट होने वाला आशय उसका फल है । प्रमोदादि भावनाएँ मैत्री के अंगरूप हैं । क्योंकि इनके अभाव से मैत्री फलेगी भी नहीं और टिकेगी भी नहीं । इस ग्रंथ में मैत्रीआदि भावनाओं को सिद्ध करने के उपाय और व्यतिरेक से इन भावनाओं को सिद्ध न करने से होने वाली हानियों को भी बताया गया है । यह सब जानने के बाद धर्म में रुचि रखने वाले धर्म अर्थी को यह ग्रंथ धर्म प्रगटाने के लिए धर्म की बालपोथी की तरह आवश्यक हो जाएगा । और इसे आदरपूर्वक अभ्यास करने हेतु योग्य समझे बिना नहीं रहेगा । किसी भी विद्वान् का प्रथम उपकार बालपोथी ही करती है । इसी तरह किसी भी धर्मी का यह ग्रंथ और इसमें बताई गई भावनाओं का अभ्यास उपकार करेगा ।

इसी आशा के साथ विराम !

ॐ

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरताः भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्रसुखी भवतु लोकः ।।
सर्वेऽपि सन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ।।

जब तक इस धरती पर सूर्य और चंद्र उदित होते रहेंगे तब तक यह **'धर्म-बीज'** सबके हृदय में धर्म कल्पवृक्ष को पुष्ट करता रहे, यही मंगलकामना ।

इस ग्रंथ को लिखने में मेरी आत्मा ने जिस किसी तरह का पुण्य इकट्ठा किया हो उससे सभी का कल्याण हो !

धर्म-बीज को नमस्कार हो !

मैत्री आदि भावनाओं का रहस्य

संसार में रहे हुए सभी जीव स्वरुप से अभिन्न होने पर भी अनादिकालीन कर्म संयोग के कारण भिन्न दिशा का अनुभव करते है । इस भिन्नता का अनुभव यही उसका दु:ख है, उसे दूर करने के लिए, जिसमें उस भेद का अनुभव नहीं हैं, ऐसा मोक्ष ही उपादेय है ।

अनादि निगोद की अव्यवहार राशि में यह जीव, (सिद्धों से भी अनंत गुणा ऐसे अनंत जीवों के साथ एक ही शरीर में आहार निहार और श्वासोच्छ्वास आदि क्रिया करता हुआ अनंत काल रहा हैं, परंतु वहां मैत्री भाव, जो अभेदभाव का साधक है, उसका अभाव होने से दु:ख का ही अनुभव किया हैं, एक क्षण मात्र के लिए भी सुख का अनुभव नहीं किया है ।

समय जाने पर सामग्री का योग मिलने पर यह आत्मा व्यवहार राशि में आई । अनंत के साथ में रहने से त्रस्त बनी यह आत्मा प्रत्येक वनस्पतिकाय आदि के भव में शरीर आदि भिन्न सामग्री मिली, परंतु वहां भी सुख का अनुभव नहीं हुआ, क्योंकि वहां भी भेद-भाव अखंड था, निगोद अवस्था से भी ज्यादा बढ गया ।

परिणाम स्वरुप स्नेहराग, कामराग और दृष्टिराग जैसे दु:ष्ट संबंधों से अन्य जीवों के साथ अभेद साधने के लिए विविध प्रयत्न किए परंतु राग जन्य संबंधों से वह ठगाता ही गया । अभेदभाव के बदले भेदभाव ही दृढ हुआ, सुख के बदले दु:ख में ही वृद्धि हुई । इस प्रकार चार गतियों में सभी योनियों में अनंत भव भ्रमण होने पर भी उसे कहीं भी सुख की प्राप्ति नहीं हुई ।

इस प्रकार संसार में परिभ्रमण करती आत्मा ने भवितव्यता आदि कारण सामग्री को प्राप्त कर मानवभव प्राप्त किया ।

मानव भव इसी कारण श्रेष्ठ है कि इसी भव में जीव अनादि के

भेदभाव को दूर कर सकता हैं उसे भेदभाव को दूर करने के लिए तत्त्वज्ञ महापुरुषों ने मैत्री आदि चार भाव बतलाए है ।

1) मैत्री भाव :– यह भाव इसलिए जरुरी है कि इस भाव के बिना अनादि भेद को टालने की भूमिका ही प्राप्त नहीं होती है ।

सभी जीव समान है । मेरी तरह सभी को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है । कर्म के कारण वे सभी भिन्न होने पर भी स्वरुप सत्ता से मेरे तुल्य है ।

किसी के ऊपर द्वेष-वैर विरोध आदि करना वह मेरे खुद के ऊपर ही वैर-विरोध करने जैसा है । किसी के अहित में मेरा ही अहित है और दूसरे के हित में मेरा हित है–इत्यादि भावना से यह जीव अन्य जीवों के नजदीक आता है । अभेद के आनंद का अनुभव करने लगता है । परिणाम स्वरुप आत्मा में सभी के दुःख नाश की तत्परता बढती है ।

2) प्रमोद भाव :– मैत्री भाव के फलस्वरुप प्रमोदभाव प्रकट होता है । अन्य जीवों को अपना मित्र मानने से उनकी धन दौलत, आरोग्य, यश-कीर्ति या क्षमादि गुण रुप बाह्य-अभ्यंतर सभी संपत्ति पराई नहीं, बल्कि अपनी समझता है । ज्यों ज्यों यह भाव बढता हैं, त्यों त्यों विशेष आनंद का अनुभव होता है । इस प्रकार प्रमोदभाव से अभेद के आंशिक आनंद का यहीं अनुभव होता है । धीरे धीरे अभेदभाव भी दृढ बनता जाता है । इस प्रकार मैत्री में से प्रमोदभाव प्रकट होता हैं फिर दोनों सहकारी बनकर बढते जाते है । इस प्रमोदभाव से अन्य को लाभ हो या न हो, स्वयं के गुण अवश्य प्रकट होते है ।

3) करुणा भाव :– यह भाव भी मैत्रीभाव बिना प्रकट नहीं होता है । जब तक अन्य जीवों के प्रति भेद बुद्धि होगी, तब तक उनके दुःख में दुःख या उसे दूर करने की बुद्धि कैसे प्रकट होगी ?

मैत्री भाव से संबंध होने पर जिस प्रकार स्वयं दूसरों के सुख के

आनंद का अनुभव करता है, उसी प्रकार दूसरों के दुःख का भी अनुभव करता है, इस कारण बाह्य-अभ्यंतर उभय प्रकार के दुःख को दूर करने की वृत्ति रुप करुणा पैदा होती है, इस करुणा भाव से शक्य प्रयत्न भी चालू होता है । यह प्रयत्न दूसरों को लाभ करे या न करे, स्वयं को तो लाभ करता ही है ।

4) माध्यस्थ्य भाव :– सभी जीवों के साथ अभेद बुद्धि प्रकट होने से दूसरों की संपत्ति-विपत्ति स्वयं की बन जाती है, उसी प्रकार दूसरों को कर्मबंधन हो, वह भी असह्य बन जाता है । इस कारण कुशल वैद्य की तरह जहां तक शक्य हो, दूसरे को सुधारने का प्रयत्न करता है और लाभ के बदले हानि देखकर, उससे बचने के लिए उपेक्षा करने लग जाता है ।

मैत्री भाव के बिना प्रमोद व करुणा भाव प्रकट नहीं होता हैं, उसी प्रकार उपेक्षा भाव भी प्रकट नहीं होता है ।

उपेक्षा / माध्यस्थ्य भाव भी लंघन की तरह अनुपम औषध है । उससे शक्य लाभ ही होता हैं, हानि तो बिल्कुल नहीं होती है ।

हाँ, उपेक्षा-अनुपेक्षा के पात्र की सही पहिचान होनी चाहिए ।

इस प्रकार चार भावनाओं के बल से सभी जीवों के साथ धर्मराग से अभेद सिद्धकर, अंत में भेद में कारणभूत सभी कर्मों का नाश कर मोक्ष में सदाकाल के लिए अभिन्न हो जाता है ।

भेद बुद्धि से होनेवाले दुःख को मूल से दूर कर अभेद भाव का अखंड, अनुपम व आत्यंतिक आनंद का अनुभव करता हुआ मुक्त जीवों के साथ एकमेक बन जाता है ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 238 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	37.	मोक्ष मार्ग के कदम	120/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	38.	विविध देववंदन	100/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	39.	समाधि मृत्यु	50/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	40.	संस्मरण	50/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	41.	भव आलोचना	10/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-	42.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	43.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
8.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	44.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
9.	विविध-तपमाला	100/-	45.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
10.	विवेकी बनो	90/-	46.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
11.	प्रवचन-वर्षा	60/-	47.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
12.	आओ श्रावक बनें !	25/-	48.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
13.	व्यसन-मुक्ति	100/-	49.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
14.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	50.	नमस्कार मीमांसा	150/-
15.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	51.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
16.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	52.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
17.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	53.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
18.	समाधि मृत्यु	80/-	54.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
19.	Pearls of Preaching	60/-	55.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
20.	New Message for a New Day	600/-	56.	वैराग्य-वाणी	140/-
21.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	57.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
22.	अमृत रस का प्याला	300/-	58.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
23.	ध्यान साधना	40/-	59.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
24.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-	60.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
25.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-	61.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
26.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-	62.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
27.	प्रेरक-प्रवचन	80/-	63.	मन के जीते जीत है	80/-
28.	जीव विचार विवेचन	100/-	64.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
29.	नवतत्त्व विवेचन	110/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
30.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-	66.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
31.	लघु संग्रहणी	140/-	67.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
32.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-	68.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
33.	कर्मग्रंथ (भाग-1)	160/-	69.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
34.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-	70.	वैराग्य-शतक	140/-
35.	गणधर-संवाद	80/-	71.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
36.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-	72.	धर्म-बीज	140/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 8484848451 (only whatsapp)

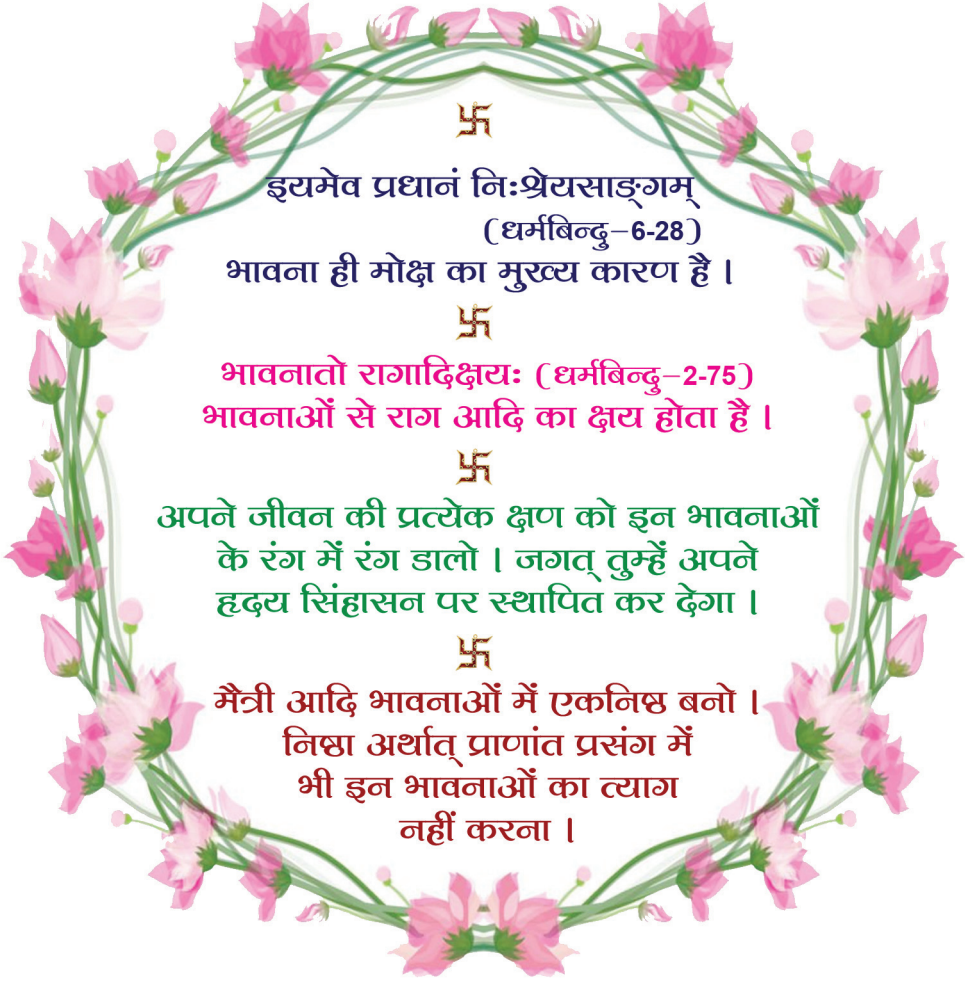

卐

इयमेव प्रधानं निःश्रेयसाङ्गम्

(धर्मबिन्दु–6-28)

भावना ही मोक्ष का मुख्य कारण है ।

卐

भावनातो रागादिक्षयः (धर्मबिन्दु–2-75)

भावनाओं से राग आदि का क्षय होता है ।

卐

अपने जीवन की प्रत्येक क्षण को इन भावनाओं
के रंग में रंग डालो । जगत् तुम्हें अपने
हृदय सिंहासन पर स्थापित कर देगा ।

卐

मैत्री आदि भावनाओं में एकनिष्ठ बनो ।
निष्ठा अर्थात् प्राणांत प्रसंग में
भी इन भावनाओं का त्याग
नहीं करना ।